****

SHWETASHAVTARO UPNISHAD

(Hindi)

****

॥ श्रीहरिः॥

विषय-सूची

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

श्वेताश्वतरोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

नित्यानन्दं निराधारं निखिलाधारमव्ययम्।
निगमाद्यगतं नित्यं नीलकण्ठं नमाम्यहम्॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

वह परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें। हम साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हम दोनोंका पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

सम्बन्धभाष्य

ग्रन्थारम्भ-प्रयोजनम्

श्वेताश्वतरोपनिषद् इदं विवरण-मल्पग्रन्थं ब्रह्म-जिज्ञासूनां सुखाव-बोधायारभ्यते। चित्सदानन्दाद्वितीय-ब्रह्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषययाविद्यया स्वानु-भवगम्यया साभासया प्रति-बद्धस्वाभाविकाशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषानर्थोऽविद्यापरिकल्पितैरेव साधनै-रिष्टप्राप्तिं चापुरुषार्थं पुरुषार्थं मन्यमानो मोक्षार्थमलभमानो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणः सुरनर-तिर्यगादिप्रभेदभेदितनानायोनिषु संचरन्केनापि सुकृतकर्मणा ब्राह्मणाद्यधिकारिशरीरं प्राप्त ईश्वरार्थकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलो-

ब्रह्मतत्त्वके जिज्ञासुओंको सरलतासे बोध करानेके लिये यह श्वेताश्वतरोपनिषद्‌की व्याख्या छोटे-से ग्रन्थके रूपमें आरम्भ की जाती है। यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप ही है, तथापि अपने ही आश्रित रहनेवाली, अपनेहीको विषय करनेवाली और ['मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार] अपने अनुभवसे ही ज्ञात होनेवाली चिदाभासयुक्त अविद्यासे उस (जीवात्मा) के सब प्रकारके स्वाभाविक पुरुषार्थका अवरोध हो जानेसे उसे सम्पूर्ण अनर्थकी प्राप्ति हुई है और वह अज्ञानवश कल्पना किये हुए ही साधनोंसे अपनी इष्टप्राप्तिरूप अपुरुषार्थको ही पुरुषार्थ मानकर परम पुरुषार्थरूप मोक्षपद प्राप्त न कर सकनेके कारण मकरादिके समान रागादि दोषोंसे इधर-उधर खींचा जाकर देवता, मनुष्य एवं तिर्यक् आदि विभिन्न भेदोंसे युक्त अनेकों योनियोंमें विचरता रहता है। जब किसी पुण्यकर्मके द्वारा ब्रह्मविद्याका अधिकारी ब्राह्मणादि शरीर प्राप्तकर वह ईश्वरार्थ कर्मानुष्ठान करनेसे रागादि मलोंसे

ऽनित्यत्वादिदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रार्थ-भोगविराग उपेत्याचार्य-माचार्यद्वारेण वेदान्तश्रवणादिनाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोको भवति। अविद्यानिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य विद्याधीनत्वाद्युज्यते च तदर्थोपनिषदारम्भः।

मुक्त और वस्तुओंका अनित्यत्वादि देखनेसे ऐहिक और पारलौकिक भोगोंसे विरक्त हो जाता है। तब आचार्यके पास जाकर उनके द्वारा वेदान्तश्रवणादि करके 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर वह अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जानेके कारण शोकरहित हो जाता है। क्योंकि अज्ञाननिवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञानके अधीन है, इसलिये ज्ञान ही जिसका प्रयोजन है उस उपनिषद्का आरम्भ करना उचित ही है।

आत्मज्ञानस्य माहात्म्यम्

तथा तद्विज्ञानादमृतत्वम्। "तमेवं विद्वानमृत इह भवति।" (नृसिंहपूर्व० १। ६) "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० ६। १५)। "न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (के० उ० २।५)।"य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (बृ० उ० ४। ४। १४)। "किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु सञ्ज्वरेत्" (बृ० उ० ४। ४। १२)। "तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।" (बृ० उ० ४। ४। २३) "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७। १। ३) "निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।" (क०

तथा उस (ब्रह्मात्मतत्त्व) के ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त होता है। "उसको जाननेवाला इस लोकमें अमृत (मुक्त) हो जाता है", "मोक्षप्राप्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है", "यदि यहाँ उसे न जाना तो बड़ी भारी हानि है", "जो इसे जानते हैं अमर हो जाते हैं", "[यदि पुरुष 'यह परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा जान ले तो वह] क्या इच्छा करता हुआ किस कामके लिये शरीरके पीछे सन्तप्त हो", "उसे जान लेनेपर जीव पापकर्मसे लिप्त नहीं होता", "आत्मज्ञानी शोकके पार हो जाता है," "उसका अनुभव कर लेनेपर मृत्युके मुखसे छूट जाता है"

उ० १। ३। १५) "एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य" (मु० उ० २। १। १०)।

"भिद्यते हृदयग्रन्थि-
श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"
(मु० उ० २। २। ८)

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥"
(मु० उ० ३। २। ८)

"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३। २। ९) "स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य" (प्र० उ० ४। १०)। "स सर्वमवैति।" "तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः" (प्र० उ० ६। ६)। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशा० ७)। "विद्ययामृतमश्नुते" (ईशा० ११)। "भूतेषु भूतेषु

"इसे जो बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ जानता है, हे सोम्य! वह अविद्यारूप ग्रन्थिको छिन्न-भिन्न कर देता है", "उस परावर (ब्रह्मादि देवताओंसे भी उत्तम) परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर इसके हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय कट जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं", "जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई अपने नाम और रूपको छोड़कर समुद्रमें लीन हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूपसे मुक्त होकर परसे भी पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है", "वह जो कि उस परब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है", "हे सोम्य! जो भी उस छायाहीन, अशरीर, अलोहित, शुद्ध अक्षर ब्रह्मको जानता है [वह सर्वज्ञ हो जाता है]" "वह सब कुछ जानता है", "उस जाननेयोग्य पुरुषको जान, जिससे मृत्यु तुझे व्यथित न करे", "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है!" ज्ञानसे अमरत्वको प्राप्त होता है", "बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोंमें

विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।" (के० उ० २। ५) "अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति" (के० उ० ४। ९)। "तन्मया अमृता वै बभूवुः" (श्वेता० उ० ५। ६)। "तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः" (श्वेता० उ० २। १४)। "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" (बृ० उ० ४। ४। १४) "ईशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति" (श्वेता० उ० ३। ७)। "तदेवोपयन्ति"। "निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" (क० उ० १। १। १७)। "तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति" (श्वेता० उ० ४। १५)। "ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तं विदुः" (श्वेता० उ० ५। ६)। "तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्" (क० उ० २। २। १३)।

"बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृतदुष्कृते।"
(गीता २। ५०)

"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि
फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

उपलब्धकर [मृत्युके पश्चात्] इस लोकसे जाकर अमर हो जाते हैं", "[जो परात्मविद्याको जानता है वह] पापको त्यागकर विनाशरहित सुखमय स्वयंप्रकाश परम महान् ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होता है"; "वे ब्रह्मस्वरूप होकर निश्चय ही अमर हो गये", "उस आत्मतत्त्वका साक्षात्कार कर कोई देहधारी जीव कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है", "जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं", "उस ईश्वरको जानकर अमर हो जाते हैं", "उसीको प्राप्त होते हैं", "इसे अनुभव करके जीव परमशान्ति प्राप्त करता है", "उसे इस प्रकार जानकर यह मृत्युके बन्धनोंको काट देता है", "पूर्वकालमें जिन देवता और ऋषियोंने उसे जाना [वे अमर हो गये]", "[अपनी बुद्धिमें स्थित उन परमात्माको जो देखते हैं] उन्हें ही नित्य शान्ति प्राप्त होती है औरोंको नहीं।"

"समत्वयोगविषयक बुद्धिसे युक्त हुआ पुरुष [ज्ञान-प्राप्तिके द्वारा] पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है", "समत्वबुद्धिसे युक्त

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः
पदं गच्छन्त्यनामयम्॥''
(गीता २। ५१)
''सर्वं ज्ञानप्लवेनैव
वृजिनं संतरिष्यसि।''
''ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुते तथा।''
(गीता ४। ३६ ३७)
''एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्या-
त्कृतकृत्यश्च भारत।''
(गीता १५। २०)
''ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा
विशते तदनन्तरम्।''
(गीता १८। ५५)
''सर्वेषामपि चैतेषा-
मात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां
प्राप्यते ह्यमृतं यतः।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि
द्विजो भवति नान्यथा॥
एवं यः सर्वभूतेषु
पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य
ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः
कर्मभिर्न निबध्यते।

पुरुष कर्मजनित फल (इष्टानिष्टदेहकी प्राप्ति) को त्यागकर ज्ञानी हो जीते-जी जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर समस्त उपद्रवोंसे रहित मोक्ष नामक परमपद प्राप्त करते हैं'', ''तू ज्ञानरूप नौकाके द्वारा ही सम्पूर्ण पापोंके पार हो जायगा'', ''उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म (निर्बीज) कर देता है'', ''हे भारत! इस गुह्यतम शास्त्रको जानकर ही मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य होता है'', ''फिर मुझे तत्त्वतः जानकर तत्काल मुझहीमें प्रवेश कर जाता है'', ''इन सब साधनोंमें आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट माना गया है तथा सम्पूर्ण विद्याओंमें भी वही सबसे बढ़कर है, क्योंकि उससे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। इसे प्राप्त कर लेनेपर ही द्विज कृतकृत्य होता है, अन्य किसी प्रकार नहीं। इस प्रकार जो मन-ही-मन सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्माको ही देखता है वह सबमें साम्यबुद्धिको प्राप्त करके सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तथा सम्यग्दृष्टिसे सम्पन्न होनेके कारण वह कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त

दर्शनेन विहीनस्तु
संसारं प्रतिपद्यते॥"
"कर्मणा बध्यते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः॥
ज्ञानं निःश्रेयसं प्राहु-
र्वृद्धा निश्चयदर्शिनः।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन
मुच्यते सर्वपातकैः॥"
"एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यम्।
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था-
स्तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः॥"
"क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञाना-
द्विशुद्धिः परमा मता।"
"अयं तु परमो धर्मो
यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥"
"आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो
न बिभेति कुतश्चन।
मृत्योः सकाशान्मरणा-
दथवान्यकृताद्भयात् ॥"
"न जायते न म्रियते
न वध्यो न च घातकः।
न बध्यो बन्धकारी वा
न मुक्तो न च मोक्षदः॥
पुरुषः परमात्मा तु
यदतोऽन्यदसच्च तत्।"

नहीं होता। जो पुरुष इस दृष्टिसे रहित है वह संसारको प्राप्त होता है", "जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते। स्थिरबुद्धि प्राचीन आचार्योंने ज्ञानको ही मोक्षका साधन बतलाया है, अतः शुद्ध ज्ञानसे जीव सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है", "इस प्रकार मृत्युको अवश्य होनेवाली जानकर विद्वान् ज्ञानके द्वारा नित्य तेजःस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है, इसके सिवा उसके लिये कोई और मार्ग नहीं है, उसे जान लेनेपर विद्वान् प्रसन्नचित्त हो जाता है" "परमात्माके ज्ञानसे जीवकी आत्यन्तिकी शुद्धि मानी गयी है", "योगसाधनके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करना—यही परमधर्म है", "आत्मज्ञानी शोकसे पार होकर मृत्यु, मरण अथवा किसी अन्य कारणसे होनेवाले भय—इनमेंसे किसीसे भी नहीं डरता", "परमात्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न मारा जाता है और न मारता है, वह न तो बाँधा जानेवाला है और न बाँधनेवाला है तथा न मुक्त है और न मोक्षप्रद ही है, उससे भिन्न जो कुछ है वह असत् ही है।"

एवं श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमाद्युज्यत एवोपनिषदारम्भः।

किंचोपनिषत्समाख्ययैव ज्ञान- उपनिषत्समाख्ययापि **स्यैव परमपुरुषार्थ-** ज्ञानस्य परम- **साधनत्वमव-** पुरुषार्थसाधनत्वम् **गम्यते। तथा हि उपनिषदित्युपनिपूर्वस्य सदे-र्विशरणगत्यवसादनार्थस्य रूप-माचक्षते। उपनिषच्छब्देन व्याचिख्यासित-ग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तु विषया विद्योच्यते। तादर्थ्याद्ग्रन्थो-ऽप्युपनिषत्। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक-विषयवितृष्णाः सन्त उपनिष-च्छब्दितविद्यां तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषा-मविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणा-द्विनाशात्परब्रह्मगमयितृत्वाद्गर्भ-जन्मजरामरणाद्युपद्रवावसादयितृत्वा-**

इस प्रकार श्रुति, स्मृति और इतिहासादिमें ज्ञान ही मोक्षका साधन जाना जाता है, अतः इस [ज्ञान-साधक] उपनिषद्को आरम्भ करना उचित ही है।

इसके सिवा उपनिषद् नामसे भी ज्ञानका ही परमपुरुषार्थमें साधन होना जाना जाता है। जाननेका प्रकार यह है—'उपनिषद्'—यह उप और नि उपसर्गपूर्वक विशरण, विनाश, गति और अवसादन (अन्त) अर्थवाले सद् धातुका रूप बतलाया जाता है। उपनिषद् शब्दसे, हम जिस ग्रन्थकी व्याख्या करना चाहते हैं उसके द्वारा प्रतिपाद्य वस्तुको विषय करनेवाले ज्ञानका कथन होता है। उस ज्ञानकी प्राप्ति ही इसका प्रयोजन है, इसलिये यह ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है। जो मोक्षकामी पुरुष दृष्ट और श्रुत विषयसे विरक्त हो उपनिषद् शब्दसे कही जानेवाली विद्याका निश्चयपूर्वक तत्परतासे अनुशीलन करते हैं उनकी संसारकी बीजभूता अविद्यादिका विशरण—विनाश हो जानेके कारण, उन्हें परब्रह्मके पास ले जानेवाली होनेसे और उनके जन्म-मरणादि उपद्रवोंका अवसादन (अन्त)

दुपनिषत्समाख्ययाप्यन्यकृतात्परं श्रेय इति ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते।

करनेवाली होनेके कारण यह उपनिषद् है; इस प्रकार नामसे भी अन्य सब साधनोंकी अपेक्षा परम श्रेयस्कर होनेके कारण ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' कही जाती है।

कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वमित्याक्षेपः

ननु भवेदेवमुपनिषदारम्भो यदि विज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं भवेत्। न चैतदस्ति। कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वावगमात्—"अपाम सोमममृता अभूम।" "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादिना।

पूर्व०—यदि विज्ञान ही मोक्षका साधन होता तो इस प्रकार (इस उद्देश्यसे) उपनिषद्का आरम्भ किया जा सकता था, किन्तु ऐसी बात है नहीं; क्योंकि "हमने सोमपान किया है, अतः हम अमर हो गये हैं", "चातुर्मास्ययाग करनेवालेका पुण्य अक्षय होता है" इत्यादि वाक्योंसे कर्मोंका भी मोक्षसाधनत्व स्वीकार किया गया है।

उक्ताक्षेपनिरासः

न त्वेतदस्ति, श्रुतिस्मृतिविरोधान्न्यायविरोधाच्च। श्रुतिविरोधस्तावत्—"तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" (छा० उ० ८। १। ६)। "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (नृसिंहपूर्व० १। १६) "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता० उ० ६। १५)। "न कर्मणा

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे श्रुति-स्मृतियोंका विरोध है और यह युक्तिसे भी विरुद्ध है। श्रुतिका विरोध तो इस प्रकार है—"जिस प्रकार यह कर्मद्वारा उपार्जित लोक क्षीण हो जाता है उसी प्रकार वह पुण्यद्वारा प्राप्त लोक भी क्षीण हो जाता है", "उसीको जाननेवाला पुरुष इस लोकमें अमर हो जाता है", "मोक्षप्राप्तिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है", "कर्म,

न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'' (कैव० ३)। ''प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति'' (मु० उ० १। २। ७)। ''नास्त्यकृतः कृतेन'' (मु० उ० १। २। १२)।

''कर्मणा बध्यते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति
यतयः पारदर्शिनः॥''

''अज्ञानमलपूर्णत्वात्
पुराणो मलिनः स्मृतः।
तत्क्षयाद्वै भवेन्मुक्ति-
र्नान्यथा कर्मकोटिभिः॥''

''प्रजया कर्मणा मुक्ति-
र्धनेन च सतां न हि।
त्यागेनैकेन मुक्तिः स्या-
त्तदभावे भ्रमन्त्यहो॥''

''कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तथानुयन्ति न तरन्ति मृत्युम्''

प्रजा अथवा धनसे नहीं, किन्हीं-किन्हींने त्यागसे ही अमरत्व प्राप्त किया है'', ''जिनपर ज्ञानकी अपेक्षा निकृष्ट श्रेणीका कर्म अवलम्बित कहा गया है वे [सोलह ऋत्विक्, यजमान और यजमानपत्नी—] ये यज्ञके अठारह रूप अस्थिर एवं नाशवान् हैं; जो मूढ 'यही श्रेय है' ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं वे फिर भी जरा-मरणको प्राप्त होते हैं'', ''इस संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है, अतः [अनित्य फलके साधक] कर्मसे हमें क्या प्रयोजन है?''

[अब स्मृतिका विरोध दिखलाते हैं—] ''जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है; इसीसे पारदर्शी मुनिजन कर्म नहीं करते'', ''अज्ञानरूपी मलसे पूर्ण होनेके कारण यह पुरातन जीव मलिन माना जाता है, उस मलका क्षय होनेसे ही इसकी मुक्ति होती है, अन्यथा करोड़ों कर्मोंसे भी इसका छुटकारा नहीं हो सकता'', ''सत्पुरुषोंकी मुक्ति प्रजा, कर्म अथवा धनसे नहीं होती, एकमात्र त्यागसे ही होती है; त्याग न होनेपर तो वे भटकते ही रहते हैं'', ''कर्मका उदय होनेपर उसके फलमें अनुराग होता है, अतः उसीका अनुगमन करते हैं, मृत्युको पार नहीं कर पाते'',

"ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था:॥"
"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।"
(गीता ९। २१)
"श्रमार्थमाश्रमाश्चापि
वर्णानां परमार्थत:॥"
"आश्रमैर्न च वेदैश्च
यज्ञै: सांख्यैर्व्रतैस्तथा।
उग्रैस्तपोभिर्विविधै-
र्दानैर्नानाविधैरपि।
न लभन्ते तमात्मानं
लभन्ते ज्ञानिन: स्वयम्॥"
"त्रयीधर्ममधर्मार्थं
किंपाकफलसंनिभम्।
नास्ति तात सुखं किञ्चि-
दत्र दु:खशताकुले॥
तस्मान्मोक्षाय यतता
कथं सेव्या मया त्रयी।"
"अज्ञानपाशबद्धत्वा-
दमुक्त: पुरुष: स्मृत:॥

"ज्ञानके द्वारा विद्वान् नित्य प्रकाशको प्राप्त होता है, इसके सिवा उसका कोई और मार्ग नहीं है", "इस प्रकार केवल त्रयीधर्म (वैदिक कर्म) में लगे रहनेवाले सकाम पुरुष आवागमनको प्राप्त होते हैं", "वस्तुत: तो ब्राह्मणादि वर्णोंके ब्रह्मचर्यादि आश्रम भी केवल श्रमके ही लिये हैं", "आश्रमोंसे, वेदोंसे, यज्ञोंसे, सांख्यसे, व्रतोंसे, नाना प्रकारकी भीषण तपस्याओंसे और अनेकों प्रकारके दानोंसे लोग उस आत्माको प्राप्त नहीं कर सकते; किन्तु ज्ञानी उसे स्वत: प्राप्त कर लेते हैं", "त्रयीधर्म अधर्मका ही हेतु होता है, यह किंपाक* (सेमर) फलके समान है। हे तात! सैकड़ों दु:खोंसे पूर्ण इस कर्मकाण्डमें कुछ भी सुख नहीं है, अत: मोक्षके लिये प्रयत्न करनेवाला मैं त्रयीधर्मका किस प्रकार सेवन कर सकता हूँ", "अज्ञानरूपी बन्धनसे बँधा होनेके कारण जीव अमुक्त माना गया है;

* यह फल देखनेमें बहुत सुन्दर होता है, परन्तु इसमें कोई सार नहीं होता।

ज्ञानात्तस्य निवृत्तिः स्यात्
प्रकाशात्तमसो यथा।
तस्माज्ज्ञानेन मुक्तिः स्या-
दज्ञानस्य परिक्षयात्॥''
''व्रतानि दानानि तपांसि यज्ञाः
सत्यं च तीर्थाश्रमकर्मयोगाः।
स्वर्गार्थमेवाशुभमध्रुवं च
ज्ञानं ध्रुवं शान्तिकरं महार्थम्॥''
''यज्ञैर्देवत्वमाप्नोति
तपोभिर्ब्रह्मणः पदम्।
दानेन विविधान्भोगा-
ञ्ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्॥''
''धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं
पापरज्ज्वा व्रजेदधः।
द्वयं ज्ञानासिना छित्त्वा
विदेहः शान्तिमृच्छति॥''
''त्यज धर्ममधर्मं च
उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा
येन त्यजसि तत्त्यज॥''
एवं श्रुतिस्मृतिविरोधान्न कर्म-साधनममृतत्वं न्यायविरोधाच्च।

उस बन्धनकी निवृत्ति ज्ञानसे हो सकती है, जिस प्रकार कि प्रकाशसे अन्धकारकी। अतः अज्ञानका पूर्णतया क्षय होनेपर ज्ञानसे ही मुक्ति होती है'', ''व्रत, दान, तप, यज्ञ, सत्य, तीर्थ, आश्रम और कर्मयोग—ये सब स्वर्गके ही हेतु हैं, अतः अशुभ (अकल्याणकर) और अनित्य हैं। किन्तु ज्ञान नित्य, शान्तिकारक और परमार्थस्वरूप है'', ''मनुष्य यज्ञोंके द्वारा देवत्व प्राप्त करता है, तपस्यासे ब्रह्मलोक पाता है, दानसे तरह-तरहके भोग प्राप्त करता है और ज्ञानसे मोक्षपद पाता है'', ''धर्मकी रस्सीसे पुरुष ऊपरकी ओर जाता है और पापरज्जुसे अधोगतिको प्राप्त होता है, परन्तु जो इन दोनोंको ज्ञानरूप खड्गसे काट देता है वह देहाभिमानसे रहित होकर शान्ति प्राप्त करता है'', ''धर्म-अधर्म दोनोंका त्याग करो तथा सत्-असत् दोनोंहीसे मुख मोड़ लो, इस प्रकार सत्-असत् दोनोंकी आस्था छोड़कर जिस (त्यागाभिमान) के द्वारा उनका त्याग करते हो उसे भी त्याग दो।''

इस प्रकार श्रुति और स्मृतियोंसे विरोध होनेके कारण तथा युक्तिसे भी विरुद्ध होनेसे अमृतत्व कर्मसाध्य नहीं है।

कर्मसाधनत्वे मोक्षस्य चतुर्विधक्रियान्तर्भावादनित्यत्वं स्यात्। यत्कृतकं तदनित्यमिति कर्मसाध्यस्य नित्यत्वादर्शनात्। नित्यश्च मोक्षः सर्ववादिभिरभ्युपगम्यते। तथा च श्रुतिश्चातुर्मास्यप्रकरणे—प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतमिति। किं च, सुकृतमिति सुकृतस्याक्षयत्वमुच्यते। सुकृतशब्दश्च कर्मणि।

यदि उसे कर्मसाध्य माना जायगा तो मोक्ष भी चार प्रकारकी क्रियाओंके[1] अन्तर्गत होनेसे अनित्य हो जायगा; क्योंकि 'जो क्रियासाध्य होता है वह अनित्य होता है' इस नियमके अनुसार क्रियासाध्य वस्तुकी नित्यता नहीं देखी जाती। किन्तु मोक्षको तो सभी सिद्धान्तवालोंने नित्य माना है। चातुर्मास्ययोगके प्रकरणमें ऐसी श्रुति भी है कि "हे मर्त्य! तू पुनः पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है, यही तेरा अमरत्व है।" तथा "सुकृतम्" (अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति) इस श्रुतिमें सुकृतका अक्षयत्व बतलाया गया है और 'सुकृत' शब्द कर्मके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

नन्वेवं तर्हि कर्मणां देवादिप्राप्तिहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वमेव।

शङ्का—तब इस प्रकार तो देवत्वादिकी प्राप्तिके हेतु होनेसे कर्म बन्धनके ही कारण सिद्ध होते हैं?

सत्यम्, स्वतो बन्धहेतुत्वमेव। तथा च श्रुतिः—"कर्मणा

समाधान—सचमुच स्वयं तो वे बन्धनके ही कारण हैं। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"कर्मसे

१-उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य—ये चार प्रकारके क्रियाफल हैं। जब कोई अविद्यमान वस्तु क्रियाद्वारा उत्पन्न की जाती है तो उसे उत्पाद्य कहते हैं, जैसे घट पट आदि। एक वस्तुको दूसरे रूपमें परिणत करनेपर जो फल प्राप्त होता है उसे विकार्य कहते हैं; जैसे हारको गलाकर उसका कङ्कण बना दिया जाय। दोषको हटाना और गुणको प्रकट कर देना संस्कार्य है; जैसे किसी दर्पणको घिसकर उसका मैल हटा दिया जाय और उसमें चमक पैदा कर दी जाय। किसी अप्राप्य वस्तुको क्रियाद्वारा प्राप्य करना यह प्राप्त क्रियाफल है; जैसे गमनक्रियाके द्वारा किसी ग्रामविशेषमें पहुँचना।

पितृलोकः" (बृ० उ० १ । ५ । १६)। "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा० उ० २ । २३ । १)। "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० उ० १ । २ । १०) ।

"एवं कर्मसु निःस्नेहा
ये केचित्पारदर्शिनः।"
"विद्यामयोऽयं पुरुषो
न तु कर्ममयः स्मृतः॥"
"एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते"
(गीता ९ । २१)

इति।

यदा पुनः फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन्ति तदा मोक्षसाधनज्ञानसाधनान्तःकरणशुद्धिसाधनपारम्पर्येण मोक्षसाधनं भवति। तथाह भगवान्—

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

पितृलोक प्राप्त होता है", "ये सब पुण्यलोकोंके ही भागी होते हैं", "इष्ट और पूर्तकर्मोंको ही सर्वश्रेष्ठ समझनेवाले मूढ़ पुरुष किसी अन्य श्रेयःसाधनको नहीं जानते; वे लोग स्वर्गलोकके उच्च स्थानमें अपने पुण्यकर्मके उपभोगके लिये प्राप्त दिव्य देहमें पुण्यफल भोगकर इस मनुष्यलोकमें या इससे भी निकृष्ट लोक (पशु-पक्षी आदि योनि अथवा नरक) में प्रवेश करते हैं", "इस प्रकार जो कोई कर्मोंमें अनासक्त होते हैं वे ही पारदर्शी होते हैं", "यह पुरुष ज्ञानस्वरूप है, यह कर्मप्रधान नहीं माना जाता", "इस प्रकार त्रयीधर्म (केवल वैदिक कर्म) में तत्पर रहनेवाले सकाम पुरुष आवागमनको प्राप्त होते रहते हैं" इत्यादि।

किन्तु जब कोई पुरुष फलकी इच्छा न रखकर केवल भगवान्के लिये ही कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं तो वे मोक्षके साधन ज्ञानकी साधनभूता अन्तःकरण-शुद्धिके साधन होकर परम्परासे मोक्षके साधन होते हैं। ऐसा ही भगवान्ने कहा है—"जो पुरुष [कर्मफलकी] आसक्ति छोड़कर भगवान्के समर्पण-

लिप्यते न स पापेन
पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या
केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति
सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥''
(गीता ५। १०-११)
''यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा
विमुक्तो मामुपैष्यसि॥''
(गीता ९। २७-२८)
इति।

पूर्वक कर्म करता है वह जलसे कमलके पत्तेके समान [उस कर्मके शुभाशुभ फलरूप] पापसे लिप्त नहीं होता'', ''योगीलोग फलविषयक आसक्ति छोड़कर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म किया करते हैं'', ''हे कुन्तीनन्दन! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ [श्रौत या स्मार्तयज्ञरूप] हवन करते हो, जो कुछ तप करते हो और जो कुछ दान देते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो। ऐसा करनेसे तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मके बन्धनसे छूट जाओगे और संन्यासयोगसे युक्त हो जीते-जी ही कर्मबन्धनसे मुक्त होकर देहपात होनेके बाद मुझे ही प्राप्त होगे'' इत्यादि।

तथा च मोक्षे क्रमं शुद्ध्यभावे मोक्षाभावं कर्मभिश्च तच्छुद्धिं दर्शयति श्रीविष्णुधर्मे—
''अनूचानस्ततो यज्वा
कर्मन्यासी ततः परम्।
ततो ज्ञानित्वमभ्येति
योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत्॥''

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें भी मोक्षमें क्रम, चित्तशुद्धिके अभावमें मोक्ष न होना और कर्मोंके द्वारा चित्तकी शुद्धि होना—ये सब दिखाये गये हैं—''योगी पहले वेदाध्यायी, फिर यज्ञकर्ता, तत्पश्चात् कर्मसंन्यासी और फिर ज्ञानित्व प्राप्त करता है इस प्रकार वह क्रमशः मुक्तिलाभ करता है'',

''अनेकजन्मसंसार-
चिते पापसमुच्चये।
नाक्षीणे जायते पुंसां
गोविन्दाभिमुखी मतिः॥''

''जबतक अनेकों जन्मके सांसारिक संसर्गसे सञ्चित हुआ पापपुञ्ज क्षीण नहीं होता तबतक लोगोंकी बुद्धि भगवान्‌की ओर प्रवृत्त नहीं होती।''

''जन्मान्तरसहस्रेषु
तपोज्ञानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां
कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥''

''हजारों जन्मोंके पीछे तपस्या, ज्ञान और समाधिके द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं उन्हीं लोगोंकी भगवान् कृष्णमें भक्ति होती है।''

''पापकर्माशयो ह्यत्र
महामुक्तिविरोधकृत्।
तस्यैव शमने यत्नः
कार्यः संसारभीरुणा॥''

''इस लोकमें पापकर्मोंका संस्कार ही आत्यन्तिकी मुक्तिका विरोधी है; अतः संसारसे डरनेवाले पुरुषको उसीके नाशका प्रयत्न करना चाहिये।''

''सुवर्णादिमहादान-
पुण्यतीर्थावगाहनैः ।
शारीरैश्च महाक्लेशैः
शास्त्रोक्तैस्तच्छमो भवेत्॥''

''सुवर्णदानादि बड़े-बड़े दानोंसे, पवित्र तीर्थोंमें स्नान करनेसे और शास्त्रानुकूल शारीरिक महान् कष्टोंके सहनसे उसका नाश हो सकता है।''

''देवताश्रुतिसच्छास्त्र-
श्रवणैः पुण्यदर्शनैः।
गुरुशुश्रूषणैश्चैव
पापबन्धः प्रशाम्यति॥''

''देवाराधन, श्रुति और सच्छास्त्रोंके श्रवण, पवित्र तीर्थस्थानोंके दर्शन और गुरुकी सेवा करनेसे भी पापका बन्धन निवृत्त हो जाता है।''

याज्ञवल्क्योऽपि शुद्ध्यपेक्षां तत्साधनं च दर्शयति—

''कर्तव्याशयशुद्धिस्तु
भिक्षुकेण विशेषतः।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वा-
त्स्वतन्त्रीकरणाय च॥

(याज्ञ० यतिधर्म० ६२)

मलिनो हि यथादर्शो
रूपालोकस्य न क्षमः।

याज्ञवल्क्यजी भी ज्ञानमें चित्त-शुद्धिकी अपेक्षा और उसके साधन प्रदर्शित करते हैं—''ज्ञानोत्पत्तिकी हेतु होनेसे भिक्षुको स्वतन्त्रता (मुक्ति) प्राप्त करनेके लिये विशेषरूपसे चित्तकी शुद्धि ही करनी चाहिये। जिस प्रकार मलिन दर्पणमें अपना रूप नहीं देखा जा सकता उसी

तथाविपक्वकरण
आत्मज्ञानस्य न क्षमः॥''
(याज्ञ० यतिधर्म० १४१)
''आचार्योपासनं वेद-
शास्त्रार्थस्य विवेकिता।
सत्कर्मणामनुष्ठानं
सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः
सर्वभूतात्मदर्शनम्।
त्यागः परिग्रहाणां च
जीर्णकाषायधारणम्॥
विषयेन्द्रियसंरोध-
स्तन्द्रालस्यविवर्जनम्।
शरीरपरिसंख्यानं
प्रवृत्तिष्वघदर्शनम्॥
नीरजस्तमसा सत्त्व-
शुद्धिर्निःस्पृहता शमः।
एतैरुपायैः संशुद्ध-
सत्त्वयोग्यमृती भवेत्॥''
(याज्ञ० यतिधर्म० १५६—१५९)
''यतो वेदाः पुराणानि
विद्योपनिषदस्तथा।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि
यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित्॥

प्रकार जिसका अन्तःकरण परिपक्व (वासनारहित) नहीं है वह आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं रखता।'' [अब चित्तशुद्धिके साधन बतलाते हैं—] ''गुरुसेवा, वेद और शास्त्रके तात्पर्यका विवेचन, शुभकर्मोंका आचरण, सत्पुरुषोंका संग, अच्छी वाणी बोलना, स्त्रीमात्रके दर्शन और स्पर्शका त्याग, समस्त प्राणियोंमें आत्मदृष्टि करना, परिग्रहका त्याग, पुराने काषाय वस्त्र धारण करना, विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको रोकना, तन्द्रा और आलस्यको त्यागना, देहतत्त्वका विचार, प्रवृत्तिमें दोषदर्शन, रजोगुण और तमोगुणके त्यागद्वारा सत्त्वगुणको बढ़ाना, किसी प्रकारकी इच्छा न करना और मनोनिग्रह—इन उपायोंके द्वारा जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है वह योगी अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है'', ''वेद, पुराण, ज्ञानमय उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, १भाष्य तथा और भी जहाँ-कहीं जो कुछ शास्त्र हैं वे सब

वेदानुवचनं यज्ञो
ब्रह्मचर्यं तपो दमः।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्य-
मात्मनो ज्ञानहेतवः॥"
(याज्ञ० यति० १८९-१९०)

एवं वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, ब्रह्मचर्य, तप, इन्द्रियदमन, श्रद्धा, उपवास और स्वतन्त्रता (दूसरे किसीकी आशा न रखना) ये सब आत्मज्ञानके साधन हैं।"

तथा चाथर्वणे विशुद्ध्यपेक्षमात्मज्ञानं दर्शयति—
"जन्मान्तरसहस्रेषु
यदा क्षीणास्तु किल्बिषाः॥
तदा पश्यन्ति योगेन
संसारोच्छेदनं महत्॥"
(योगशिख० १। ७८-७९)
"यस्मिन्विशुद्धे विरजे च चित्ते य आत्मवत्पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।" "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" (बृ० उ० ४। ४।२२) इति बृहदारण्यके विविदिषाहेतुत्वं यज्ञादीनां दर्शयति।

इसी प्रकार अथर्ववेदीय उपनिषद्में भी 'आत्मज्ञान' चित्तशुद्धिकी अपेक्षा रखनेवाला है यह दिखलाते हैं— "जिस समय सहस्रों जन्मोंके अनन्तर पाप क्षीण हो जाते हैं उसी समय पुरुष योगके द्वारा संसारका उच्छेद करनेवाला [ज्ञानरूप] महान् साधन देख पाते हैं।" "जिस चित्तके शुद्ध और निर्मल हो जानेपर जिनके दोष क्षीण हो गये हैं वे यतिजन सम्पूर्ण भूतोंको आत्मस्वरूप ही देखते हैं।" बृहदारण्यकमें भी "उस इस आत्माको ब्राह्मणगण वेदपाठ, यज्ञ, दान, तप और उपवासके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं" इस वाक्यद्वारा श्रुति यज्ञादिको जिज्ञासाका हेतु प्रदर्शित करती है।

१-भाष्यका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—
सूत्रस्थं पदमादाय पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥
जिसमें कि सूत्रके पदोंको लेकर तदनुकूल अन्य पद (अर्थात् उनके पर्यायवाचक शब्द) और कुछ स्वाभिमत पद रहते हैं उसे भाष्यका लक्षण जाननेवाले 'भाष्य' मानते हैं।

ननु "विद्यां चाविद्यां च कर्मणा- यस्तद्वेदोभय ँ सह" मप्यमृतत्वहेतुत्वम् (ईशा० उ० ११)। "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयस-करं परम्।" इत्यादिना कर्मणामप्यमृतत्वप्राप्तिहेतुत्वमव-गम्यते।

पूर्व०—किन्तु "जो विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) इन दोनोंको साथ-साथ जानता है", "तप और ज्ञान ये ब्राह्मणके निःश्रेयसके उत्कृष्ट साधन हैं" इत्यादि वाक्योंसे तो कर्मोंका भी अमृतत्वकी प्राप्तिमें हेतु होना जान पड़ता है?

सत्यम्, अवगम्यत एव तच्च तदपेक्षित- तदपेक्षितशुद्धिद्वारेण न शुद्धिद्वारेण च साक्षात्। तथा न साक्षात् हि—"विद्यां चाविद्यां च" (ईशा० उ० ११)। "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्।" इत्यादिना ज्ञानकर्मणो-र्निःश्रेयसहेतुत्वमभिधाय कथमनयो-स्तद्धेतुत्वमित्याकाङ्क्षायां "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते।" "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृत-मश्नुते" (ईशा० उ० ११) इति वाक्यशेषेण कर्मणः कल्मष-क्षयहेतुत्वं विद्याया अमृतप्राप्ति-हेतुत्वं प्रदर्शितम्। यत्र तु शुद्ध्याद्यवान्तरकार्यानुपदेश-स्तत्रापि शाखान्तरोपसंहारन्याये-

सिद्धान्ती—ठीक है, जान तो पड़ता ही है; परन्तु ज्ञानके लिये अपेक्षित चित्तशुद्धिके द्वारा ही कर्मका अमृतत्वमें हेतुत्व है, साक्षात् नहीं। इसीसे "विद्यां चाविद्यां च" तथा "तपो विद्या च विप्रस्य नैःश्रेयसकरं परम्" इत्यादि वाक्योंसे ज्ञान और कर्मका निःश्रेयसमें हेतुत्व बतलाकर ऐसी जिज्ञासा होनेपर कि ये किस प्रकार उसके हेतु हैं—"तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते"* और "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते"† इन वाक्यशेषोंसे कर्मका पापक्षयमें कारणत्व और ज्ञानका अमृतत्वप्राप्तिमें हेतुत्व प्रदर्शित किया है। और भी जहाँ-कहीं शुद्धि आदि अन्य कर्मोंका उपदेश दिखायी न दे वहाँ भी शाखान्तरोपसंहारन्यायसे‡

* तपसे पाप नष्ट करता है और ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त करता है।

† कर्मसे [संसाररूप] मृत्युको पार करके ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त करता है।

‡ जहाँ एक ही जातिके कर्म या उपासनाका वेदकी विभिन्न शाखाओंमें वर्णन हो, किन्तु

नोपसंहारः कर्तव्यः।

उसका उपसंहार (संग्रह) कर लेना चाहिये।

विद्याया मोक्षसाधनत्व-माक्षिपति

ननु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (ईशा० उ० २) इति यावज्जीवकर्मानुष्ठाननियमे सति कथं विद्याया मोक्षसाधनत्वम्?

पूर्व०—किन्तु "कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे" ऐसा जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठानका नियम रहते हुए ज्ञान मोक्षका साधन कैसे माना जा सकता है?

आक्षेपं परिहरति

उच्यते—कर्मण्यधिकृतस्यायं नियमो नानधिकृतस्यानियोज्यस्य ब्रह्मवादिनः। तथा च विदुषः कर्मानधिकारं दर्शयति श्रुतिः—"नैतद्विद्वानृषिणा विधेयो न रुध्यते विधिना शब्दचारः।" "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे।" "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं

सिद्धान्ती—बतलाते हैं, यह नियम कर्माधिकारीके ही लिये है, जो कर्मके अधिकार और शास्त्राज्ञासे बाहर है उस ब्रह्मवेत्ताके लिये नहीं है। इसी प्रकार श्रुति भी ब्रह्मवेत्ताको कर्मके अधिकारसे बाहर दिखाती है। "यह ब्रह्मवेत्ता ऋषियोंकी आज्ञाके अधीन नहीं है और न यह शास्त्रका अनुयायी होकर उसकी आज्ञासे रुक ही सकता है," "इसीलिये पूर्ववर्ती विद्वान् अग्निहोत्र नहीं करते थे," "इस आत्मतत्त्वको जान लेनेपर ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको छोड़कर भिक्षाचर्या

शास्त्रभेदसे उनके फल या अनुष्ठानकी शैलीमें भेद दिखायी दे वहाँ अन्य शाखामें आये हुए अधिक अंशको सम्मिलित करके न्यूनताकी पूर्ति कर लेनी चाहिये। इसे शाखान्तरोपसंहार-न्याय कहते हैं। इसका विशद वर्णन ब्रह्मसूत्रभाष्यके तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें देखना चाहिये।

चरन्ति" (बृ० उ० ३।५।१) "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवेति।" यथाह भगवान्—

"यस्त्वात्मरतिरेव स्या-
दात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्ट-
स्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो
नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु
कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥"
(गीता ३। १७-१८)

तथा चाह भगवान्परमेश्वरो लैङ्गे कालकूटोपाख्याने—

"ज्ञानेनैतेन विप्रस्य
त्यक्तसङ्गस्य देहिनः।
कर्तव्यं नास्ति विप्रेन्द्रा
अस्ति चेत्तत्त्वविन्न च॥
इह लोके परे चैव
कर्तव्यं नास्ति तस्य वै।
जीवन्मुक्तो यतस्तु स्याद्-
ब्रह्मवित्परमार्थतः ॥

करते हैं," "ब्रह्मवेत्ता कावषेय ऋषियोंने भी यही कहा है—हम किस प्रयोजनके लिये अध्ययन करें और किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये यज्ञ करें? वह किस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ हो सकता है, जिस प्रकार भी हो ऐसा (सर्वत्यागी) ही होगा।" जैसा कि श्रीभगवान् भी कहते हैं—"जो पुरुष आत्मामें ही प्रेम करनेवाला, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। उस पुरुषका इस लोकमें कर्म करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है और कर्म न करनेसे यहाँ उसे प्रत्यवाय आदि अनर्थकी भी प्राप्ति नहीं होती। तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उसका कोई अर्थव्यपाश्रय (अर्थसिद्धिका सहारा) भी नहीं है।"

लिङ्गपुराणमें कालकूटोपाख्यानमें ऐसा ही भगवान् महेश्वर भी कहते हैं—"हे द्विजेन्द्रगण! इस ज्ञानके द्वारा निःसंग हुए जीवको कोई कर्तव्य नहीं रहता, यदि रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है। उसे इस लोक और परलोकमें भी कोई कर्तव्य नहीं है, क्योंकि वास्तवमें ब्रह्मवेत्ता तो जीते हुए ही मुक्त हो जाता है।

ज्ञानाभ्यासरतो नित्यं
विरक्तो ह्यर्थवित्स्वयम्।
कर्तव्यभावमुत्सृज्य
ज्ञानमेवाधिगच्छति ॥
वर्णाश्रमाभिमानी य-
स्त्यक्त्वा ज्ञानं द्विजोत्तमाः।
अन्यत्र रमते मूढः
सोऽज्ञानी नात्र संशयः॥
क्रोधो भयं तथा लोभो
मोहो भेदो मदस्तमः।
धर्माधर्मौ च तेषां हि
तद्वशाच्च तनुग्रहः॥
शरीरे सति वै क्लेशः
सोऽविद्यां संत्यजेत्ततः।
अविद्यां विद्यया हित्वा
स्थितस्यैवेह योगिनः॥
क्रोधाद्या नाशमायान्ति
धर्माधर्मौ च नश्यतः।
तत्क्षयाच्च शरीरेण
न पुनः संप्रयुज्यते॥
स एव मुक्तः संसाराद्-
दुःखत्रयविवर्जितः।''
तथा शिवधर्मोत्तरे—
''ज्ञानामृतेन तृप्तस्य
कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्य-
मस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

परमार्थतत्त्वको जाननेवाला ज्ञानाभ्यासमें तत्पर विरक्त पुरुष कर्तव्यकी चिन्ता छोड़कर केवल ज्ञानहीको प्राप्त करता है। हे द्विजश्रेष्ठ! जो वर्णाश्रमाभिमानी पुरुष ज्ञानदृष्टिको त्यागकर मोहवश कहीं अन्यत्र सुख मानता है वह अज्ञानी है, इसमें सन्देह नहीं। क्रोध, भय, लोभ, मोह, भेददृष्टि, मद, अज्ञान और धर्माधर्म—ये सब ऐसे लोगोंको ही प्राप्त होते हैं और इनके अधीन होनेपर देह धारण करना पड़ता है। तथा शरीरके रहते हुए क्लेश अवश्यम्भावी है। अतः जीवको अविद्याका त्याग करना चाहिये। जो योगी विद्याद्वारा अविद्याका त्याग करके स्थित है—उसके क्रोधादि दोष तथा धर्म और अधर्म इस लोकमें रहते हुए ही नष्ट हो जाते हैं। उनका क्षय होनेपर उसका फिर शरीरसे संयोग नहीं होता तथा वही त्रिविध तापसे छूटकर संसारसे मुक्त हो जाता है।''

तथा शिवधर्मोत्तरमें कहा है—''जो योगी ज्ञानामृतसे तृप्त होकर कृतकृत्य हो गया है उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता और यदि रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है।

लोकद्वयेऽपि कर्तव्यं
किञ्चिदस्य न विद्यते।
इहैव स विमुक्तः स्यात्
सम्पूर्णः समदर्शनः॥''

तस्माद्विदुषः कर्तव्याभावादविद्यावद्विषय एवायं कुर्वन्नेवेत्यादिकर्मनियमः। कुर्वन्नेवेति च नायं कर्मनियमः किन्तु विद्यामाहात्म्यं दर्शयितुं यथाकामं कर्मानुष्ठानमेव द्रष्टव्यम्। एतदुक्तं भवति—यावज्जीवं यथाकामं पुण्यपापादिकं कुर्वत्यपि विदुषि न कर्मलेपो भवति विद्यासामर्थ्यादिति। तथा हि—''ईशावास्यमिद ँ सर्वम्'' (ईशा० उ० १) इत्यारभ्य ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'' (ईशा० उ० १) इति विदुषः सर्वकर्मत्यागेनात्मपालनमुक्त्वानियोज्ये ब्रह्मविदि त्यागकर्तव्य-

उसे दोनों लोकोंमें कोई कर्तव्य नहीं रहता। यह सर्वथा पूर्ण और समदर्शी होनेके कारण इस लोकमें ही मुक्त हो जाता है।''

अतः विद्वान्‌के लिये कोई कर्तव्य न होनेके कारण 'कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करे' इत्यादि रूपसे कर्म करनेका नियम केवल अज्ञानियोंके ही लिये है। अथवा यह समझना चाहिये कि 'कुर्वन्नेव' इत्यादि वाक्य कर्मका नियामक नहीं है, अपितु ज्ञानकी महिमा दिखानेके उद्देश्यसे [ज्ञानीके लिये] स्वेच्छानुसार कर्मानुष्ठान प्रदर्शित करनेके लिये ही है। इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि विद्वान् स्वेच्छासे जीवनपर्यन्त पुण्य-पापादिरूप कर्म करता भी रहे तो भी ज्ञानके सामर्थ्यसे उसे उन कर्मोंका लेप नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि ''ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्'' यहाँसे लेकर ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'' इस प्रथम मन्त्रसे सर्वकर्मपरित्यागपूर्वक आत्मरक्षाका प्रतिपादन करनेपर वेद यह देखकर कि जिसके लिये कोई भी विधि नहीं की जा सकती उस ब्रह्मवेत्ताके लिये सर्वकर्मपरित्यागका विधान करना भी

तोक्तिरप्ययुक्तैवोक्तेति मत्वा चकितः सन्वेदो विदुषस्त्याग-कर्तव्यतामपि नोक्तवान्। कुर्व-न्नेवेह लोके विद्यमानं पुण्य-पापादिकं कर्म यावज्जीवं जिजी-विषेत्। न पुण्यादिबन्धभया-त्पुण्यादिकं त्यक्त्वा तूष्णीमवतिष्ठेत। एवं तावत्कर्माणि कुर्वत्यपि विदुषि त्वयीतो यावज्जीवानुष्ठाना-दन्यथाभावः स्वरूपात्प्रच्युतिः पुण्यादिनिमित्तसंसारान्वयो नास्ति। अथवेतः कर्मानुष्ठानोत्तरकाल-भाव्यन्यथाभावः संसारान्वयो नास्ति। यस्मात्त्वयि विन्यस्तं न कर्म लिप्यते। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"न लिप्यते कर्मणा पापकेन" (बृ० उ० ४। ४। २३)।

अनुचित ही है, चकित हुआ, अतः यह दिखानेके लिये कि मैंने विद्वान्‌के लिये कर्मत्यागकी भी विधि नहीं की है, यह कहा है कि ज्ञानी इस लोकमें आजीवन यथाप्राप्त पुण्य-पापादिरूप कर्म करता हुआ जीनेकी इच्छा करे; उसे पुण्यादि फलके बन्धनके भयसे पुण्यादिको त्यागकर चुपचाप बैठनेकी आवश्यकता नहीं है।* क्योंकि इस प्रकार यावज्जीवन कर्म करते रहनेपर भी तुझ ब्रह्मवेत्ताका अन्यथाभाव—स्वरूपच्युति अर्थात् पुण्यादिके कारण होनेवाला संसारका संसर्ग नहीं हो सकता। अथवा 'इतः' यानी कर्मानुष्ठानके पीछे होनेवाला अन्यथाभाव—संसारका संसर्ग नहीं हो सकता। क्योंकि तुझ ब्रह्मवेत्तामें स्थापित कर्म लिप्त (संपृक्त) नहीं होता। ऐसी ही अन्य श्रुतियाँ भी हैं—"ज्ञानी पापकर्मोंसे लिप्त नहीं

* ज्ञानीमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होता और न उसकी भोगदृष्टि ही होती है। इसलिये किसी भी प्रकारकी वासना न रहनेके कारण वह न तो पुण्यफलकी प्राप्तिके लिये पुण्यकर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है और न आसक्तिवश पापकर्म ही करता है। उसके प्रारब्धानुसार उससे जो कर्म होते हैं उनसे अन्य पुरुषोंका जो इष्ट या अनिष्ट होता है उसके कारण वे उनमें पुण्य या पापका आरोप कर लेते हैं। इसलिये उन्हींकी दृष्टिसे यहाँ ज्ञानीके कर्मोंको पुण्य-पाप विशेषणोंसे विशेषित किया है। यदि अपने द्वारा होते हुए कर्मोंमें ज्ञानीकी पुण्य-पापदृष्टि रहेगी तो यह असम्भव है कि उसे उनका फल न भोगना पड़े। पुण्य-पापदृष्टि तो जीवकी होती है और ज्ञानीमें जीवत्वका अत्यन्ताभाव होता है।

"एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" (छा० उ० ४। १४। ३)। "नैनं कृताकृते तपतः" (बृ० उ० ४। ४। २२)। "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" (छा० उ० ५। २४। ३)।

लैङ्गे—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुते तथा॥
ज्ञानिनः सर्वकर्माणि
जीर्यन्ते नात्र संशयः।
क्रीडन्नपि न लिप्येत
पापैर्नानाविधैरपि ॥"

शिवधर्मोत्तरेऽपि—

"तस्माज्ज्ञानासिना तूर्ण-
मशेषं कर्मबन्धनम्।
कामाकामकृतं छित्त्वा
शुद्धश्चात्मनि तिष्ठति॥
यथा वह्निर्महान्दीप्तः
शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्।
तथा शुभाशुभं कर्म
ज्ञानाग्निर्दहते क्षणात्॥
पद्मपत्रं तथा तोयैः
स्वस्थैरपि न लिप्यते।
शब्दादिविषयाम्भोभि-
स्तद्वज्ज्ञानी न लिप्यते॥

होता", "इस प्रकार जाननेवालेको पापकर्मका संसर्ग नहीं होता", "उसे पुण्य-पाप सन्ताप नहीं दे सकते", "इसी प्रकार इसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।"

लिङ्गपुराणमें कहा है—"इसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञानीके समस्त कर्म जीर्ण हो जाते हैं, वह नाना प्रकारके पाप-पुण्योंसे क्रीडा करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता।"

शिवधर्मोत्तरमें भी कहा है—"अतः वह तुरंत ही सकाम या निष्कामभावसे किये हुए सम्पूर्ण कर्मबन्धनको ज्ञानरूप खड्गसे काटकर शुद्ध हो अपने आत्मामें स्थित हो जाता है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रज्वलित हुआ अग्नि सूखे और गीले सब प्रकारके ईंधनको जला डालता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि एक क्षणमें ही समस्त शुभाशुभ कर्मोंको भस्म कर देता है। जिस प्रकार कमलका पत्ता अपने ऊपर पड़े हुए जलसे भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी प्रारब्धवश अपनेको प्राप्त हुए शब्दादि विषयरूप जलसे लिप्त नहीं होता।

यद्वन्मन्त्रबलोपेतः
क्रीडन्सर्पैर्न दंश्यते।
क्रीडन्नपि न लिप्येत
तद्वदिन्द्रियपन्नगैः॥
मन्त्रौषधिबलैर्यद्व-
ज्जीर्यते भक्षितं विषम्।
तद्वत्सर्वाणि पापानि
जीर्यन्ते ज्ञानिनः क्षणात्॥"

जिस प्रकार मन्त्रबलसे सम्पन्न हुआ पुरुष सर्पोंके साथ खेलते रहनेपर भी उनके द्वारा नहीं डँसा जाता उसी प्रकार ज्ञानी इन्द्रियरूप सर्पोंके साथ क्रीडा करते रहनेपर भी उनसे लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार खाया हुआ विष भी मन्त्र और ओषधिके सामर्थ्यसे पच जाता है उसी प्रकार ज्ञानीके सारे पाप एक क्षणमें नष्ट हो जाते हैं।"

स्वाभिमतसूत्र-कृन्मतोपन्यासः

तथा च सूत्रकारः—"पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः" (ब्र० सू० ३। ४। १) इति ज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थहेतुत्वमभिधाय "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो

तथा सूत्रकार भगवान् व्यासजीने भी "पुरुषार्थोऽतः[1] शब्दादिति बादरायणः" इस सूत्रसे ज्ञानको ही परमपुरुषार्थका हेतु बतलाकर फिर "शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति

१-स्वतन्त्र साधनभूत इस (औपनिषद आत्मज्ञान) से मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें ['तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि] श्रुति प्रमाण है—ऐसा बादरायणाचार्यका मत है।

२-इस सूत्रका विशद अर्थ इस प्रकार है—जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' इस व्रीहियागमें करणभूत व्रीहिके साथ ही उसका प्रोक्षण आदि भी यज्ञका अङ्ग माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा कर्तृरूपसे यज्ञ आदि कर्मका अङ्ग होनेके कारण उसका ज्ञान भी उस कर्मका अङ्ग ही है। अतः आत्मज्ञानके महान् फलको बतानेवाली 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति शेषत्वात्—यज्ञादि कर्मोंका अङ्ग होनेके कारण पुरुषार्थवाद है अर्थात् पुरुष [आत्मा] की प्रशंसाके लिये अर्थवादमात्र है; जिस प्रकार कि अन्यान्य द्रव्यसंस्कार-सम्बन्धी कर्मोंमें फलश्रुति अर्थवाद मानी जाती है। उदाहरणके लिये निम्नाङ्कित श्रुति है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिसकी पलाशकी 'जुहू' होती है वह कभी पापमय यशका श्रवण नहीं करता) यह फलश्रुति यज्ञसम्बन्धिनी जुहूसे सम्बन्ध रखनेवाले पलाशकी प्रशंसा करनेसे यज्ञकी ही अङ्गभूत है; अतः यज्ञशेष होनेसे अर्थवाद

यथा........" (ब्र० सू० ३।४।२) इत्यादिना कर्मापेक्षितकर्तृप्रतिपादकत्वेन विद्यायाः कर्मशेषत्वमाशङ्क्य "अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्य......" (ब्र० सू० ३।४।८) इत्यादिना कर्तृत्वादिसंसारधर्मरहितापहतपाप्मादिरूपब्रह्मोपदेशात्तद्विज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं त्वाशासानस्य कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्ददर्शनात्कर्माधिकारोच्छित्तिप्रसङ्गाद्भिन्नप्रकरणत्वाद्भिन्नकार्यत्वाच्च परस्परविकल्पः समुच्चयोऽङ्गाङ्गिभावो

जैमिनिः" इस सूत्रसे जैमिनिके मतानुसार कर्ममें अपेक्षित कर्ताका प्रतिपादन करनेवाली होनेसे विद्याके कर्मशेषत्वकी आशङ्का कर "[1]अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्" इस सूत्रसे यह बतलाया है कि विद्या कर्तृत्वादि सांसारिक धर्मोंसे रहित निष्पापादिरूप ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, इसलिये जो पुरुष उसके ज्ञानपूर्वक कर्माधिकारकी सिद्धिकी आशा रखता है उसके कर्माधिकारके हेतुभूत अविद्याजनित क्रिया, कारक एवं फलरूप समस्त संसारके स्वरूपका विद्याके प्रभावसे विनाश देखा जानेके कारण कर्माधिकारके उच्छेदका प्रसंग उपस्थित होनेसे तथा कर्म और ज्ञानके भिन्न-भिन्न प्रकरण और भिन्न-भिन्न कार्य देखे जानेके कारण उनका आपसमें विकल्प,

---

मानी गयी है। ऐसा जैमिनिका मत है। अभिप्राय यह कि यज्ञादिका कर्ता और भोक्ता संसारी जीव ही शरीर छूटनेपर आत्मा या परात्मा शब्दसे कहा गया है। जो संसारी जीव है उसीके ज्ञानका महत्त्व वेदान्तमें बताया गया है। इस मतमें ईश्वरका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है।

१-जैमिनिके पूर्वोक्त मतका खण्डन करते हुए कहते हैं—'अधिकोपदेशात्तु' इत्यादि। यदि कर्ता भोक्ता संसारी जीवका ही उपनिषद्की श्रुतियोंमें उपदेश किया गया होता तो उक्तरूपसे की हुई फलश्रुति अवश्य ही अर्थवाद हो सकती थी; किन्तु वहाँ तो संसारी जीवकी अपेक्षा बहुत ही उत्कृष्ट असंसारी परमेश्वरका वेद्यरूपसे उपदेश किया गया है, इसलिये मुझ बादरायणका [आत्मज्ञानसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इत्यादि] पूर्वोक्त मत ज्यों-का-त्यों ठीक ही है; क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियोंमें उस उत्कृष्ट परमात्माके स्वरूपका उपदेश देखा जाता है।

वा नास्तीति प्रतिपाद्य "अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" (ब्र० सू० ३। ४। २५) इति विद्याया एव परमपुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनाद्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीति पूर्वोक्तस्याधिकरणस्य फलमुपसंहृत्यात्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायां "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" (ब्र० सू० ३। ४। २६) इति नात्यन्तमनपेक्षा। उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किञ्चिदन्यदपेक्षते। उत्पत्तिं प्रत्यपेक्षत एव।

समुच्चय अथवा अङ्गाङ्गिभाव कुछ भी नहीं हो सकता*—ऐसा प्रतिपादन करके "अतएव[1] चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" इस सूत्रसे विद्या ही परमपुरुषार्थकी हेतु होनेके कारण वह अपने प्रयोजनकी पूर्तिमें अग्नि-ईंधनादिसे निष्पन्न होनेवाले आश्रम-कर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखती, इस प्रकार पूर्वोक्त अधिकरणके फलका उपसंहार कर ज्ञानप्राप्तिमें कर्मकी अत्यन्त अनपेक्षा प्राप्त होनेपर "सर्वापेक्षा[2] च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इस सूत्रसे यह बतलाया है कि कर्मकी बिलकुल ही अपेक्षा न हो—ऐसी बात नहीं है, अपि तु विद्या उत्पन्न हो जानेपर ही अपने फलकी सिद्धिमें किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखती, अपनी उत्पत्तिमें तो उसे कर्मकी अपेक्षा है ही, क्योंकि

* वेदमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—ये दोनों अलग-अलग हैं तथा ज्ञानसे मोक्ष और कर्मोंसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है; इसलिये इनके फल भी अलग-अलग हैं। अत: इन दोनोंका परस्पर न तो विकल्प (एक ही प्रयोजनके लिये दोनोंमेंसे किसी एकका अनुष्ठान), न समुच्चय (दोनोंका एक साथ अनुष्ठान) और न अङ्गाङ्गिभाव (एकका दूसरेके अन्तर्गत होना) ही हो सकता है।

१-[क्योंकि ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप है] इसीलिये उसमें अग्नि-ईंधन आदि [आश्रमविहित कर्मों] की अपेक्षा नहीं है।

२-विद्या अपनी उत्पत्तिमें योग्यतावश सभी आश्रम-कर्मोंकी अपेक्षा रखती है, जैसे योग्यतानुसार अश्वका उपयोग होता है। इस विषयमें 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति प्रमाण है, [अर्थात् जैसे घोड़ा रथमें ही जोता जाता है हलमें नहीं, उसी प्रकार] विद्या अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखती है; मोक्षरूप फलकी सिद्धिमें नहीं।

"विविदिषन्ति यज्ञेन" इति श्रुतेरिति विविदिषासाधनत्वेन कर्मणामुपयोगं दर्शितवान्। तथा च "नाविशेषात्" (ब्र० सू० ३। ४। १३) "स्तुतयेऽनुमतिर्वा" (ब्र० सू० ३। ४। १४) इति-सूत्रद्वयेन कुर्वन्नेवेतिमन्त्र-स्याविद्वद्विषयत्वेन विद्यास्तुतित्वेन चार्थद्वयं दर्शितवान्। अत उक्तेन प्रकारेण ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वा-द्युक्तः परोपनिषदारम्भः।

"यज्ञके द्वारा आत्माको जानना चाहते हैं" इस श्रुतिसे वेदने जिज्ञासाके साधनरूपसे कर्मोंका उपयोग दिखलाया है। तथा इसके आगे "नाविशेषात्"[1] और "स्तुतयेऽनुमतिर्वा"[2] इन दो सूत्रोंद्वारा "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इस श्रुतिके दो प्रकारसे अर्थ दिखलाये हैं—पहला यह कि यह 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादि मन्त्र अज्ञानीके लिये है।' तथा दूसरा अर्थ यह है कि यह मन्त्र विद्या (ज्ञान) की स्तुतिके लिये है। इसलिये उक्त प्रकारसे ज्ञान ही मोक्षका साधन होनेके कारण आगेकी उपनिषद्‌को आरम्भ करना उचित ही है।

ज्ञानादमृतत्वेऽनुपपत्तिदर्शनम्

ननु बन्धस्य मिथ्यात्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वेन ज्ञानादमृतत्वं स्यात्। न त्वेतदस्ति; प्रति-पन्नत्वाद्बाधाभावाद्युष्मदादिस्वरूपत्वे-

पूर्व०—यदि जीवका बन्धन मिथ्या होता तो वह ज्ञानसे निवृत्त होनेयोग्य हो सकता था और ऐसी अवस्थामें ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती थी; किन्तु ऐसी बात है नहीं; क्योंकि बन्धन प्रत्यक्षसिद्ध है, इसका बाध नहीं होता और युष्मदस्मदादि (तू-मैं आदि) रूपसे प्रतीत

१-['विद्वान्' ऐसा] विशेषण न होनेके कारण 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादि वाक्य तत्त्वज्ञविषयक नहीं है।

२-अथवा तत्त्वज्ञके लिये जो कर्मानुज्ञा है वह ज्ञानकी स्तुतिके लिये है। अर्थात् तत्त्वज्ञ होनेपर जीवनपर्यन्त कर्म करनेपर भी कर्मका लेप नहीं होता—ऐसा कहकर तत्त्वज्ञानकी स्तुति की गयी है।

नात्मनो विलक्षणत्वे सादृश्याद्यभावादध्यासासम्भवाच्च।

होनेके कारण आत्माका स्वरूप सबसे विलक्षण है, अतः उससे किसीका सादृश्य न होनेके कारण उसमें किसी अन्य वस्तुका अध्यास होना भी सम्भव नहीं है।

उक्तानुपपत्तिपरिहारः

उच्यते—न तावत्प्रतिपन्नत्वेन सत्यत्वं वक्तुं शक्यते, प्रतिपत्तेः सत्यत्वमिथ्यात्वयोः समानत्वात्। नापि बाधाभावात्सत्यत्वम्, विधिमुखेन कारणमुखेन च बाधसम्भवात्। तथाहि श्रुतिः—प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं मायाकारणत्वं च दर्शयति "न तु तद् द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४। ३। २३)। "एकत्वम्" "नास्ति द्वैतम्।" "कुतो विदिते वेद्यं नास्ति"। "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६। २। १)। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६। १। ४)। "एकमेव सत्॥" "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४। ४। १९)। "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४। ४। २०)। "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० उ० ४। १०)। "मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता० उ० ४। ९)। "इन्द्रो

सिद्धान्ती—अच्छा, बतलाते हैं [सुनो—] प्रत्यक्षसिद्ध होनेके कारण ही बन्धनकी सत्यता नहीं बतलायी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्षता तो सत्य और असत्य दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंमें समानरूपसे देखी जाती है। बाध न होनेके कारण भी इसकी सत्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि शास्त्रविधि और कारणदृष्टिसे इसका बाध होना सम्भव है ही। जैसे कि "उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है," "एकत्व ही है," "द्वैत नहीं है," "क्योंकि ज्ञान हो जानेपर वेद्यका अभाव हो जाता है," "एक ही अद्वितीय है," "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है," "एक ही सद्वस्तु है," "यहाँ नाना कुछ भी नहीं है," "सबको एकरूप ही देखना चाहिये," "प्रकृतिको माया समझो," "मायावी परमात्मा इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको रचता है," "इन्द्र (परमात्मा)

मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृ० उ० २। ५। १९) इत्यादिभिर्वाक्यैः।

''अजोऽपि सन्नव्ययात्मा
भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय
संभवाम्यात्ममायया॥''
(गीता ४। ६)

''अविभक्तं च भूतेषु
विभक्तमिव च स्थितम्।''
(गीता १३। १६)

तथा च ब्राह्मे पुराणे—

''धर्माधर्मौ जन्ममृत्यू
सुखदुःखेषु कल्पना।
वर्णाश्रमास्तथा वासः
स्वर्गो नरक एव च॥
पुरुषस्य न सन्त्येते
परमार्थस्य कुत्रचित्।
दृश्यते च जगद्रूप-
मसत्यं सत्यवन्मृषा॥
तोयवन्मृगतृष्णा तु
यथा मरुमरीचिका।
रौप्यवत्कीकसं भूतं
कीकसं शुक्तिरेव च॥
सर्पवद्रज्जुखण्डश्च
निशायां वेश्ममध्यगः।

मायासे अनेक रूप होकर चेष्टा करता है'' इत्यादि वाक्योंद्वारा श्रुति प्रपञ्चका मिथ्यात्व और मायामूलकत्व प्रदर्शित करती है। [श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् भी कहते हैं—] ''मैं अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंका प्रभु हूँ, तथापि अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर अपनी मायासे ही जन्म लेता हूँ'', ''वह ज्ञेय प्रत्येक शरीरमें आकाशके समान अविभक्त एवं एक है तो भी समस्त प्राणियोंमें विभक्त हुआ-सा स्थित है।''

ब्रह्मपुराणमें भी कहा है—

''धर्म-अधर्म, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखकी कल्पना, वर्णाश्रमविभाग तथा स्वर्ग या नरकमें रहना ये सब परमार्थस्वरूप पुरुषमें कहीं भी नहीं हैं। जिस प्रकार मरुमरीचिकारूप मृगतृष्णा जलवत् प्रतीत होती है, उसी प्रकार इस जगत्का असत्य स्वरूप ही व्यर्थ सत्य-सा दृष्टिगोचर हो रहा है। वास्तविक शुक्ति शुक्तिरूप ही है, किन्तु जैसे वह चाँदीके समान भासने लगती है, घरमें पड़ा हुआ रस्सीका टुकड़ा जैसे रात्रिके समय सर्पवत् दिखायी देने लगता है,

एक एवेन्दुर्द्वौ व्योम्नि
तिमिराहतचक्षुषः ॥
आकाशस्य घनीभावो
नीलत्वं स्निग्धता तथा।
एकश्च सूर्यो बहुधा
जलाधारेषु दृश्यते॥
आभाति परमात्मापि
सर्वोपाधिषु संस्थितः।
द्वैतभ्रान्तिरविद्याख्या
विकल्पो न च तत्तथा॥
परत्र बन्धागारः स्या-
त्तेषामात्माभिमानिनाम्।
आत्मभावनया भ्रान्त्या
देहं भावयतां सदा॥
आप्रज्ञमादिमध्यान्तै-
र्भ्रमभूतैस्त्रिभिः सदा।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तैस्तु
च्छादितं विश्वतैजसम्॥
स्वमायया स्वमात्मानं
मोहयेद्द्वैतरूपया ।

जिसके नेत्र तिमिररोगसे पीड़ित हैं उस पुरुषको जैसे आकाशमें एक ही चन्द्रमा दो-सा दिखायी देने लगता है और जिस प्रकार [सर्वथा शून्यस्वरूप] आकाशमें घनीभाव नीलता और स्निग्धताकी प्रतीति होती है [उसी प्रकार जगत्‌का रूप मिथ्या होनेपर भी सत्य-सा जान पड़ता है]। जैसे एक ही सूर्य जलके अनेक आधारोंमें अनेक-सा दिखायी देता है उसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें स्थित परमात्मा ही [उन-उन रूपोंमें] भास रहा है। यह अविद्यासंज्ञक द्वैतभ्रान्ति विकल्प[1] ही है, यह यथार्थ नहीं है।''

''जो लोग भ्रान्तिवश सर्वदा देहको ही आत्मा समझते हैं उन देहाभिमानियोंका वह देह मरनेके पश्चात् परलोकमें बन्धनका स्थान होता है [अर्थात् उन्हें पुनः देह धारण करना पड़ता है]। आदि, मध्य और अन्तमें जो सर्वदा भ्रमरूप ही हैं उन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओंसे ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ भी आच्छादित हैं। यह जीव अपनी द्वैतरूप मायासे स्वयं ही अपनेको मोहग्रस्त करता है

१-जिससे केवल शब्दका ही ज्ञान हो, किसी वस्तुका नहीं, उसे विकल्प कहते हैं; जैसे—आकाशकुसुम, शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र आदि। इसी आशयका यह योगसूत्र है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (१। ९)।

गुहागतं स्वमात्मानं
लभते च स्वयं हरिम्॥
व्योम्नि वज्रानलज्वाला-
कलापो विविधाकृतिः।
आभाति विष्णोः सृष्टिश्च
स्वभावो द्वैतविस्तरः॥
शान्ते मनसि शान्तश्च
घोरे मूढे च तादृशः।
ईश्वरो दृश्यते नित्यं
सर्वत्र न तु तत्त्वतः॥
लोहमृत्पिण्डहेम्नां च
विकारो न च विद्यते।
चराचराणां भूतानां
द्वैतता न च सत्यतः॥
सर्वगे तु निराधारे
चैतन्यात्मनि संस्थिता।
अविद्या द्विगुणां सृष्टिं
करोत्यात्मावलम्बनात्॥
सर्पस्य रज्जुता नास्ति
नास्ति रज्जौ भुजङ्गता।
उत्पत्तिनाशयोर्नास्ति
कारणं जगतोऽपि च॥
लोकानां व्यवहारार्थ-
मविद्येयं विनिर्मिता।

और स्वयं ही अपने अन्तःकरणमें स्थित अपने आत्मभूत श्रीहरिको प्राप्त करता है। जिस प्रकार आकाशमें वज्राग्नि (बिजली) की अनेक प्रकारकी लपटें दिखायी देती हैं, उसी प्रकार भगवान् विष्णुका स्वभाव ही द्वैतविस्ताररूप सृष्टि होकर भास रहा है। सर्वत्र सर्वदा एकमात्र भगवान् ही शान्त (सात्त्विक) चित्तमें शान्तरूपसे और घोर (राजस) तथा मूढ (तामस) चित्तमें घोर और मूढरूपसे दिखायी दे रहे हैं। किन्तु तत्त्वतः वे वैसे नहीं हैं।

'लोहा, मृत्पिण्ड और सुवर्ण इनका भी विकार नहीं होता। जितने चराचर भूत हैं उनका भेद वस्तुतः नहीं है। सर्वगत निराधार चैतन्यात्मामें स्थित अविद्या ही आत्माके आश्रयसे स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारकी सृष्टि रचती है। जिस प्रकार सर्पमें रज्जुत्व और रज्जुमें सर्पत्व नहीं है उसी प्रकार जगत्के उत्पत्ति और नाशका भी कोई कारण नहीं है। इस अविद्याकी रचना (कल्पना) लोकव्यवहारके लिये ही हुई है।'

एषा विमोहिनीत्युक्ता
द्वैताद्वैतस्वरूपिणी ॥
अद्वैतं भावयेद्ब्रह्म
सकलं निष्कलं सदा।
आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो
न बिभेति कुतश्चन॥
मृत्योः सकाशान्मरणा-
दथवान्यकृताद्भयात्।
न जायते न म्रियते
न वध्यो न च घातकः॥
न बद्धो बन्धकारी वा
न मुक्तो न च मोक्षदः।
पुरुषः परमात्मा तु
यदतोऽन्यदसच्च तत्॥
एवं बुद्ध्वा जगद्रूपं
विष्णोर्मायामयं मृषा।
भोगासङ्गाद्भवेन्मुक्त-
स्त्यक्त्वा सर्वविकल्पनाम्॥
त्यक्तसर्वविकल्पश्च
स्वात्मस्थं निश्चलं मनः।
कृत्वा शान्तो भवेद्योगी
दग्धेन्धन इवानलः॥
एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना

यह द्वैताद्वैतस्वरूपिणी है और [संसारको मोहित करनेवाली होनेसे] 'विमोहिनी' कही गयी है। आत्मज्ञानीको चाहिये कि 'वह सर्वदा पूर्ण परब्रह्मका निष्कल और अद्वैतरूपसे चिन्तन करे। इससे वह शोकसे पार होकर किसीसे भय नहीं करता। उसे मृत्युकी सन्निधिसे, मरनेसे अथवा किसी अन्य कारणसे होनेवाले भयसे भी डर नहीं लगता।'

''परमपुरुष परमात्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न मारा जा सकता है, न मारनेवाला है, न बद्ध है, न बन्धनमें डालनेवाला है, न मुक्त है और न मुक्ति देनेवाला है। उससे भिन्न जो कुछ है वह असत् है। इस प्रकार भगवान् विष्णुके विश्वरूपको मायामय और मिथ्या समझकर सब प्रकारकी कल्पनाको त्यागकर भोगोंकी आसक्तिसे मुक्त हो जाय। इस प्रकार समस्त विकल्पोंसे छूटकर मनको आत्मस्थ, निश्चल और शान्त करके योगी जिसका ईंधन जल चुका है ऐसे [धूमरहित] अग्निके समान हो जाता है।''

''यह चौबीस[1] भेदोंवाली

१-मायाके चौबीस भेद इस प्रकार हैं—एक प्रकृति (त्रिगुणात्मिका मूला प्रकृति), सात प्रकृति। विकृति (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) और सोलह विकृति (दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत)।

माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ।
कामक्रोधौ लोभमोहौ भयं च
विषादशोकौ च विकल्पजालम्॥
धर्माधर्मौ सुखदुःखे च सृष्टि-
विनाशपाकौ नरके गतिश्च।
वासः स्वर्गे जातयश्चाश्रमाश्च
रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च॥
कौमारतारुण्यजरावियोग-
संयोगभोगानशनव्रतानि।
इतीदमीदृग्विदयं निधाय
तूष्णीमासीनः सुमतिं विविद्धि॥"

माया जगत्की मूल कारण है। उसीसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, शोक तथा अन्य विकल्पजाल उत्पन्न हुए हैं। और उसीसे धर्म-अधर्म, सुख-दुःख और सृष्टि-विनाशरूप परिणाम, नरकमें जाना, स्वर्गमें रहना, जाति, आश्रम, राग, द्वेष, तरह-तरहकी व्याधियाँ, कुमारावस्था, तरुणता, वृद्धावस्था, वियोग, संयोग, भोग, उपवास और व्रत प्रकट हुए हैं। इन सबको इस प्रकार [प्रकृतिका ही विकार] जाननेवाला पुरुष इन्हें प्रकृतिमें स्थापित कर मौनभावसे स्थित रहता है। उसे ही तुम शुभ मतिवाला जानो।"

तथा च श्रीविष्णुधर्मे षडध्याय्याम्—

"अनादिसम्बन्धवत्या
क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया।
युक्तः पश्यति भेदेन
ब्रह्मतत्त्वात्मनि स्थितम्॥
पश्यत्यात्मानमन्यच्च
यावद्वै परमात्मनः।
तावत्संभ्राम्यते जन्तु-
र्मोहितो निजकर्मणा॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु
परं ब्रह्म प्रपश्यति।

तथा श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके अन्तर्गत षडध्यायीमें भी कहा है—"यह श्रेत्रज्ञ अपनेमें अनादिकालसे सम्बद्ध हुई अविद्यासे युक्त होकर अपने अन्तःकरणमें स्थित ब्रह्मको भेदरूपसे देखता है। जबतक जीव परमात्मासे भिन्न अपनेको तथा अन्य जीवोंको देखता है तबतक वह अपने कर्मोंद्वारा मोहित होकर संसारमें भटकाया जाता है। जब इसके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं तो यह शुद्ध परब्रह्मको अपनेसे अभिन्नरूपसे

अभेदेनात्मनः शुद्धं
शुद्धत्वादक्षयो भवेत्॥
अविद्या च क्रियाः सर्वा
विद्या ज्ञानं प्रचक्षते।
कर्मणा जायते जन्तु-
र्विद्यया च विमुच्यते॥
अद्वैतं परमार्थो हि
द्वैतं तद्भिन्न उच्यते।
पशुतिर्यङ्मनुष्याख्यं
तथैव नृप नारकम्॥
चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं
मिथ्याज्ञाननिबन्धनः।
अहमन्योऽपरश्चाय-
ममी चात्र तथापरे॥
अज्ञानमेतद्द्वैताख्य-
मद्वैतं श्रूयतां परम्।
मम त्वहमिति प्रज्ञा-
वियुक्तमविकल्पवत्॥
अविकार्यमनाख्येय-
मद्वैतमनुभूयते ।
मनोवृत्तिमयं द्वैत-
मद्वैतं परमार्थतः॥
मनसो वृत्तयस्तस्मा-
द्धर्माधर्मनिमित्तजाः ।
निरोद्धव्यास्तन्निरोधे
द्वैतं नैवोपपद्यते॥
मनोदृष्टमिदं सर्वं
यत्किञ्चित्सचराचरम् ।

देखता है और शुद्ध हो जानेके कारण यह अक्षय हो जाता है। समस्त कर्म अविद्यारूप हैं और ज्ञान विद्या कहलाता है। कर्मसे जीवको जन्म लेना पड़ता है और ज्ञानसे वह मुक्त हो जाता है। अद्वैत ही परमार्थ है और द्वैत उससे भिन्न (अपरमार्थ) कहा जाता है। हे राजन्! पशु-तिर्यक्, मनुष्य और नारकी जीव—यह चार प्रकारका भेद मिथ्या ज्ञानके ही कारण है। मैं अन्य हूँ, यह अन्य है और ये सब अन्य हैं—यही द्वैत कहलानेवाला अज्ञान है। अब अद्वैतके विषयमें श्रवण करो।

"अद्वैततत्त्व मैं-मेरा, तू-तेरा आदि बुद्धिसे रहित, निर्विकल्प, निर्विकार और अनिर्वचनीयरूपसे अनुभूत होता है। द्वैत मनोवृत्तिरूप है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है; अतः धर्माधर्मरूप निमित्तके कारण उत्पन्न हुई मनकी वृत्तियोंका निरोध करना चाहिये। उनका निरोध हो जानेपर द्वैतकी सिद्धि नहीं होती। यह जो कुछ चराचर जगत् है सब मनका दृश्यमात्र है।

मनसो ह्यमनीभावे-
ऽद्वैतभावं तदाप्नुयात्॥
कर्मणां भावना येयं
सा ब्रह्मपरिपन्थिनी।
कर्मभावनया तुल्यं
विज्ञानमुपजायते ॥
तादृग्भवति विज्ञप्ति-
र्यादृशी खलु भावना।
क्षये तस्याः परं ब्रह्म
स्वयमेव प्रकाशते॥
परात्मनोर्मनुष्येन्द्र
विभागोऽज्ञानकल्पितः।
क्षये तस्यात्मपरयो-
रविभागोऽत एव हि॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञो हि
संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव विगतः शुद्धः
परमात्मा निगद्यते॥''
तथा च श्रीविष्णुपुराणे—
''परमात्मा त्वमेवैको
नान्योऽस्ति जगतः पते।
तवैष महिमा येन
व्याप्तमेतच्चराचरम् ॥
यदेतद्दृश्यते मूर्त-
मेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति
जगद्रूपमयोगिनः ॥

मनका अमनीभाव (नाश) हो जानेपर यह अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है। यह जो कर्मोंकी भावना है वह ब्रह्मानुभवमें विघ्नरूप है, क्योंकि कर्मोंकी भावनाके अनुकूल ही विज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान तो वैसा ही होता है जैसी कि भावना होती है। अतः भावनाका नाश हो जानेपर परब्रह्मका स्वयं ही अनुभव होने लगता है। हे राजन्! आत्मा और परब्रह्मका जो विभाग है वह अज्ञानकल्पित ही है। इसीसे उसका क्षय हो जानेपर फिर आत्मा और परब्रह्मका अभेद ही निश्चित होता है। क्षेत्रज्ञसंज्ञक आत्मा प्रकृतिके गुणोंसे युक्त है, वही उनसे रहित होकर शुद्ध होनेपर परमात्मा कहलाता है।''

ऐसा ही श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा है—''हे जगत्पते! तुम्हीं एकमात्र परमात्मा हो; तुमसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिससे यह चराचर जगत् व्याप्त है वह यह तुम्हारी ही महिमा है। यह जो कुछ मूर्त्त जगत् दिखायी देता है ज्ञानस्वरूप आपका ही रूप है। असंयमी लोग अपने भ्रमपूर्ण ज्ञानके अनुसार इसे जगद्रूप देखते हैं।

ज्ञानस्वरूपमखिलं
जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो
भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्ध-
चेतसस्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति
त्वद्रूपं पारमेश्वरम्॥"
(१। ४। ३८—४१)

"अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम्।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति॥"
(१। २२। ८७)

"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तं
निर्मलं परमार्थतः।
तदेवार्थस्वरूपेण
भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥"
(१। २। ६)

"ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतो-
ऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-
ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥"
(२। १२। ३९)

"वस्त्वस्ति किं कुत्रचिदादिमध्य-
पर्यन्तहीनं सततैकरूपम्।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूमौ

इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत्को अर्थस्वरूप देखनेवाले बुद्धिहीन पुरुषोंको मोहरूप महासागरमें भटकना पड़ता है। किन्तु जो शुद्धचित्त ज्ञानीलोग हैं वे इस सम्पूर्ण जगत्को आप परमात्माका ज्ञानमय स्वरूप ही देखते हैं।" "जिसका ऐसा निश्चय है कि मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् जनार्दन श्रीहरि ही हैं उनसे भिन्न कोई भी कार्य-कारणवर्ग नहीं है, उस पुरुषको फिर सांसारिक राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप रोग नहीं होते।"

"जो परमार्थतः (वास्तवमें) अत्यन्त निर्मल ज्ञानस्वरूप परमात्मा है वही अज्ञान-दृष्टिसे विभिन्न पदार्थोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है।" "वे विश्व-मूर्ति भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं, पदार्थाकार नहीं हैं, इसलिये इन पर्वत, समुद्र और पृथिवी आदि विभिन्न पदार्थोंको तुम विज्ञानका ही विलास जानो।" "हे द्विज! क्या घट-पटादि कोई भी ऐसी वस्तु है जो आदि, मध्य और अन्तसे रहित एवं सर्वदा एक रूपमें ही रहनेवाली हो। पृथिवीपर जो वस्तु बदलती रहती है,

न तत्तथा तत्र कुतो हि तत्त्वम्॥
मही घटत्वं घटतः कपालिका
कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः।
जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मनिश्चयै-
रालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्तु॥
तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि-
त्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम्
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम्॥
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-
मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
एकं सदैकं परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥
सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो
ज्ञानं तथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतत्तु यत्संव्यवहारभूतं
तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥"
(२। १२। ४१—४५)

पूर्ववत् नहीं रहती, उसमें वास्तविकता कैसे हो सकती है? देखो, मृत्तिका ही घटरूप हो जाती है, फिर वही घटसे कपाल, कपालसे चूर्ण-रज और रजसे अणुरूप हो जाती है। फिर बताओ तो सही, अपने कर्मोंके वशीभूत हो आत्मनिश्चयको भूले हुए मनुष्य इसमें कौन-सी सत्य वस्तु देखते हैं? अतः हे द्विज! विज्ञानके सिवा कभी कहीं कोई भी पदार्थसमूह नहीं है। अपने-अपने कर्मोंके कारण विभिन्न चित्तवृत्तियोंसे युक्त पुरुषोंको एक विज्ञान ही विभिन्नरूपसे प्रतीत हो रहा है। राग-द्वेषादि मलसे रहित शोकशून्य, लोभादि सम्पूर्ण दोषोंसे वर्जित, सदा एकरस एवं असंग एकमात्र विशुद्ध विज्ञान ही वह सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर वासुदेव है; उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति परमार्थका निरूपण किया। बस, एक ज्ञान ही सत्य है और सब मिथ्या है। उसके सिवा यह जो व्यावहारिक सत्य है उस त्रिभुवनके विषयमें भी वर्णन कर दिया।"

"अविद्यासंचितं कर्म
तच्चाशेषेषु जन्तुषु॥
आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो
निर्गुणः प्रकृतेः परः।

"कर्म अविद्याजनित है और वह सभी जीवोंमें विद्यमान है; किन्तु आत्मा शुद्ध, निर्विकार, शान्त, निर्गुण और प्रकृतिसे अतीत है।

प्रवृद्ध्यपचयौ न स्त
एकस्याखिलजन्तुषु ॥''
(२। १३। ७०-७१)

''यत्तु कालान्तरेणापि
नान्यसंज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसम्भूतां
तद्वस्तु नृप तच्च किम्॥''
(२। १३। १००)

''यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि
मत्तः पार्थिवसत्तम।
तदैषोऽहमयं चान्यो
वक्तुमेवमपीष्यते ॥
यदा समस्तदेहेषु
पुमान्होको व्यवस्थितः।
तदा हि को भवान्सोऽह-
मित्येतद्विप्रलम्भनम् ॥
त्वं राजा शिबिका चेयं
वयं वाहाः पुरःसराः।
अयं च भवतो लोको
न सदेतत्त्वयोच्यते॥''
(२। १३। ९०—९२)

''वस्तु राजेति यल्लोके
यच्च राजभटात्मकम्।
तथान्ये च नृपत्वं च
तत्तत्सङ्कल्पनामयम् ॥''
(२। १३। ९९)

''अनाशी परमार्थश्च
प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।''
(२। १४। २४)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें विद्यमान उस एक आत्माके वृद्धि और क्षय नहीं होते।'' ''हे राजन्! जो कालान्तरमें भी परिणामादिके कारण होनेवाली किसी अन्य संज्ञाको प्राप्त नहीं होती वही परमार्थ वस्तु है। ऐसी वस्तु [आत्माके सिवा] और क्या है?'' ''हे नृपश्रेष्ठ! यदि मुझसे भिन्न कोई और पदार्थ होता तो यह, मैं, अमुक, अन्य आदि भी कहना ठीक हो सकता था। जब कि सम्पूर्ण शरीरोंमें एक ही पुरुष स्थित है तो ''आप कौन हैं?'' 'मैं वह हूँ' इत्यादि वाक्य- वञ्चनामात्र हैं! तुम राजा हो, यह पालकी है, हम तुम्हारे सामने चलनेवाले वाहक हैं और ये तुम्हारे परिजन हैं— यह तुम ठीक नहीं कहते।'' ''व्यवहारमें जो वस्तु राजा है, जो राजसेवकादि हैं और जिसे राजत्व कहते हैं तथा इनके सिवा जो अन्य पदार्थ हैं वे सब सङ्कल्पमय ही हैं।'' ''अविनाशी परमार्थतत्त्वकी उपलब्धि तो ज्ञानियोंको ही होती है।''

"परमार्थस्तु भूपाल
संक्षेपाच्छ्रूयतां मम॥
एको व्यापी समः शुद्धो
निर्गुणः प्रकृतेः परः।
जन्मवृद्ध्यादिरहित
आत्मा सर्वगतोऽव्ययः॥
परज्ञानमयः सद्भि-
र्नामजात्यादिभिः प्रभुः।
न योगवान्न युक्तोऽभू-
न्नैव पार्थिव योक्ष्यते॥
तस्यात्मपरदेहेषु
संयोगो ह्येक एव यत्।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ
द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः॥"
(२। १४। २८—३१)

"राजन्! तुम मुझसे संक्षेपमें परमार्थतत्त्व श्रवण करो। सर्वव्यापी, सर्वत्र समभावसे स्थित, शुद्ध, निर्गुण प्रकृतिसे अतीत, जन्म और वृद्धि आदिसे रहित, सर्वगत एवं अविनाशी आत्मा एक है। वह परम ज्ञानमय है। हे राजन्! उस प्रभुका वास्तविक नाम एवं जाति आदिसे संयोग न तो है, न हुआ है और न कभी होगा ही। उसका अपने और दूसरोंके देहोंके साथ एक ही संयोग है। इस प्रकारका जो विशेष ज्ञान है वही परमार्थ है। द्वैतवादी तो अपरमार्थदर्शी हैं।

"एवमेकमिदं विद्व-
न्नभेदि सकलं जगत्।
वासुदेवाभिधेयस्य
स्वरूपं परमात्मनः॥"
(२। १५। ३५)

हे विद्वन्! इस प्रकार यह सारा जगत् वासुदेवसंज्ञक परमात्माका एक अभिन्न स्वरूप ही है।"

"निदाघोऽप्युपदेशेन
तेनाद्वैतपरोऽभवत्॥
सर्वभूतान्यभेदेन
स ददर्श तदात्मनः।
तथा ब्रह्म ततो मुक्ति-
मवाप परमां द्विज॥
सितनीलादिभेदेन
यथैकं दृश्यते नभः।

"[गुरुवर ऋभुके] इस उपदेशसे निदाघ भी अद्वैतपरायण हो गया; और तब वह समस्त प्राणियोंको आत्माके साथ अभेदरूपसे देखने लगा तथा उसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया। हे द्विज! इससे उसने उत्कृष्ट मोक्षपद प्राप्त कर लिया। जिस प्रकार एक ही आकाश सफेद और नीले आदि भेदसे विभिन्न प्रकारका दिखायी

भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि
तथैकः सन्पृथक्पृथक्॥''
(२। १६। १९-२०)

''एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चि-
त्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।
सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-
दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥
इतीरितस्तेन स राजवर्य-
स्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः।
स चापि जातिस्मरणाप्तबोध-
स्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप॥''
(२। १६। २२—२४)

तथा लैङ्गे—

''तस्मादज्ञानमूलो हि
संसारः सर्वदेहिनाम्।
परतन्त्रे स्वतन्त्रे च
भिदाभावाद्विचारतः॥
एकत्वमपि नास्त्येव
द्वैतं तत्र कुतोऽस्त्यहो।
एकं नास्त्यथ मर्त्यं च
कुतो मृतसमुद्भवः॥
नान्तःप्रज्ञो बहिष्प्रज्ञो
न चोभयत एव च।

देता है, उसी प्रकार जिनकी दृष्टि भ्रमग्रस्त है उन लोगोंको आत्मा एक होनेपर भी पृथक्-पृथक् दिखायी देता है।'' ''इस जगत्में जो कुछ है वह सब एकमात्र श्रीहरि ही है; उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। वही मैं हूँ, वही तुम हो और यह सारा जगत् भी आत्मस्वरूप श्रीहरि ही है। तुम भेदभ्रमको छोड़ दो। उस (अवधूत) के ऐसा कहनेपर उस सौवीरनरेशने परमार्थदृष्टिसे सम्पन्न हो भेदबुद्धि छोड़ दी और उस ब्राह्मणने भी पूर्वजन्मका स्मरण रहनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर उसी जन्ममें मोक्षपद प्राप्त कर लिया।''

तथा लिङ्गपुराणमें कहा है—''अतः समस्त प्राणियोंको यह संसार अज्ञानके ही कारण प्राप्त हुआ है; क्योंकि विचार करनेपर स्वतन्त्र परमात्मा और परतन्त्र जीवमें कोई भेद नहीं है। अहो! जब उसमें एकत्व भी नहीं है तो द्वैत कहाँसे हो सकता है? जब एक नहीं और कोई मर्त्य (मरणधर्मा) भी नहीं तो मृत्यु कहाँसे हो सकती है? वह न अन्तःप्रज्ञ (भीतरकी जाननेवाला) है, न बहिष्प्रज्ञ (बाहरकी जाननेवाला) है, न दोनों ओरकी जानने-

न प्रज्ञानघनस्त्वेवं
न प्रज्ञोऽप्रज्ञ एव सः॥
विदिते नास्ति वेद्यं च
निर्वाणं परमार्थतः।
अज्ञानतिमिरात्सर्वं
नात्र कार्या विचारणा॥
ज्ञानं च बन्धनं चैव
मोक्षो नाप्यात्मनो द्विजाः।
न ह्येषा प्रकृतिर्जीवो
विकृतिश्च विकारतः।
विकारो नैव मायैषा
सदसद्व्यक्तिवर्जिता ॥''

वाला है और न प्रज्ञानघन है। इसीलिये वह न प्रज्ञ (प्रकृष्ट ज्ञानवान्) है और न अप्रज्ञ (ज्ञानहीन) ही है। ज्ञान हो जानेपर तो कोई ज्ञेय ही नहीं रहता; अतः परमार्थतः निर्वाणस्वरूप ही है। सब कुछ अज्ञानान्धकारके ही कारण है। इसमें किसी प्रकारका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। हे द्विजगण! आत्माका न ज्ञान होता है, न बन्धन होता है और न मोक्ष ही होता है। जीव न तो यह प्रकृति है, न विकृति है और न इनका विकार ही है, क्योंकि ये सब विकारी हैं। यह सब तो सत्-असत्से विलक्षण माया ही है।''

तथाह भगवान्पराशरः—
''अस्माद्धि जायते विश्व-
मत्रैव प्रविलीयते।
स मायी मायया बद्धः
करोति विविधास्तनूः॥
न चात्रैवं संसरति
न च संसारयेत्परम्।
न कर्ता नैव भोक्ता च
न च प्रकृतिपूरुषौ॥
न माया नैव च प्राण-
श्चैतन्यं परमार्थतः।

तथा भगवान् पराशर कहते हैं—''इसीसे विश्व उत्पन्न होता है और इसीमें लीन हो जाता है। वह मायामय मायासे बँधकर स्वयं ही अनेक प्रकारके शरीर धारण कर लेता है। किन्तु इस प्रकार न तो वह स्वयं संसारको प्राप्त होता है और न किसी अन्यको ही संसारमें प्रवृत्त करता है क्योंकि वह न कर्ता है, न भोक्ता है, न प्रकृति या पुरुष है, न माया है और न प्राण है; वस्तुतः वह तो चैतन्य है। अतः

तस्मादज्ञानमूलो हि
संसारः सर्वदेहिनाम्॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा
कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः स भिद्यते शक्त्या
मायया न स्वभावतः॥
तस्मादद्वैतमेवाहु-
र्मुनयः परमार्थतः।
ज्ञानस्वरूपमेवाहु-
र्जगदेतद्विचक्षणाः॥
अर्थस्वरूपमज्ञाना-
त्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः।
कूटस्थो निर्गुणो व्यापी
चैतन्यात्मा स्वभावतः॥
दृश्यते ह्यर्थरूपेण
पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः।
यदा पश्यति चात्मानं
केवलं परमार्थतः॥
मायामात्रमिदं द्वैतं
तदा भवति निर्वृतः।
तस्माद्विज्ञानमेवास्ति
न प्रपञ्चो न संसृतिः॥''

समस्त प्राणियोंको अज्ञानके कारण ही संसारकी प्राप्ति हुई है। आत्मा तो नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और निर्दोष है। वह एक अपनी मायाशक्तिके द्वारा ही भेदको प्राप्त होता है, स्वरूपतः नहीं। अतः मुनियोंने परमार्थतः अद्वैत ही बतलाया है; विद्वानोंने इस जगत्को ज्ञानस्वरूप ही कहा है। जिनकी दृष्टि दूषित है वे अन्य लोग ही अज्ञानवश इसे परमार्थस्वरूप समझते हैं। चैतन्य आत्मा तो स्वभावतः कूटस्थ, निर्गुण और सर्वव्यापक है। भ्रान्तिदर्शी लोगोंको ही वह पदार्थाकार प्रतीत होता है। जिस समय पुरुष आत्माका परमार्थरूपसे साक्षात्कार करता है और इस द्वैतप्रपञ्चको मायामात्र समझता है उसी समय उसे शान्ति प्राप्त होती है। अतः केवल विज्ञान ही है, प्रपञ्च या संसार नहीं है।''

प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम्

एवं श्रुत्यादिना नामादिकारणोपन्यासमुखेन स्वरूपेण च बाधितत्वात्प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमवगम्यते। अस्थूलादिलक्षणस्य ब्रह्मणस्तद्विपरीतस्थूलाकारो मिथ्या

इस प्रकार श्रुति आदिके द्वारा नामादिके कारणोंका दिग्दर्शन करानेसे तथा स्वरूपतः बाधित होनेके कारण प्रपञ्चका मिथ्यात्व जाना जाता है। ब्रह्म अस्थूलादि लक्षणोंवाला है, अतः उससे विपरीत स्थूलाकार

भवितुमर्हति। यथैकस्य चन्द्रमसस्तद्विपरीतद्वितीयाकारस्तद्वत्।

प्रपञ्च मिथ्या होना ही चाहिये। जिस प्रकार एक चन्द्रमाका उससे विपरीत दूसरा आकार मिथ्या होता है उसी प्रकार इसे समझना चाहिये।

सूत्रकृन्मतोपन्यासपूर्वकं ब्रह्मणो निर्विशेषत्वसमर्थनम्

तथा च सूत्रकारो "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" (ब्र० सू० ३। २। ११) इति स्वरूपत उपाधितश्च विरुद्धरूपद्वयासम्भवान्निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "न भेदात्"……(ब्र० सू० ३। २। १२) इति भेदश्रुतिबलात्किमिति सविशेषमपि ब्रह्म नाभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य "न प्रत्येकमतद्वचनात्" इत्युपाधिभेदस्य श्रुत्यैव बाधितत्वादभेदश्रुतिबलात्सविशेषस्य ग्रहणायोगान्निर्विशेषमेवेत्युपपाद्य "अपि

इसी प्रकार सूत्रकार भगवान् व्यासने भी "न[1] स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इस सूत्रद्वारा स्वरूपसे और उपाधिसे भी ब्रह्मके [सविशेष और निर्विशेष] दो परस्पर-विरुद्ध रूप सम्भव न होनेके कारण ब्रह्म निर्विशेष ही है ऐसा उपपादन कर [फिर "न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्" इस सूत्रके] "न[2] भेदात्" इस अंशद्वारा ऐसी आशङ्का कर कि "क्या भेदश्रुतिके सामर्थ्यसे ब्रह्मको सविशेष भी नहीं माना जा सकता" "न[3] प्रत्येकमतद्वचनात्" इस अंशसे यह निश्चय किया है कि उपाधिजनित भेदश्रुतिसे ही बाधित होनेके कारण अभेदश्रुतिके सामर्थ्यसे सविशेष ब्रह्मका ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये वह निर्विशेष ही है। इसके

१-परब्रह्म उपाधिसे भी [सविशेष निर्विशेष] उभयरूप नहीं हो सकता; क्योंकि सर्वत्र उसका निर्विशेषरूपसे ही वर्णन किया गया है।

२-[यदि कहो] ऐसा नहीं है, क्योंकि ['चतुष्पाद् ब्रह्म' 'षोडशकलं ब्रह्म' इत्यादि रूपसे] प्रत्येक विद्यामें उसका भेदरूपसे वर्णन किया है।

३-तो ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक औपाधिक भेदमें ['अयमेव स योऽयमात्मा' इत्यादि श्रुतिके द्वारा] उसका अभेद ही बतलाया गया है।

चैवमेके" (ब्र० सू० ३। २। १३) इति भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेवैके शाखिनः समामनन्ति—"मनसैवेदमाप्तव्यम्" (क० उ० २। १। ११)। "नेह नानास्ति किञ्चन।" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (बृ० उ० ४। ४। १९)। "एकधैवानुद्रष्टव्यमिति" (बृ० उ० ४। ४। २०)। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वेता० उ० १। १२) इति सर्वभोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावताभिधीयत इति।

पश्चात् "अपि[1] चैवमेके" इस सूत्रसे यह निश्चय किया है कि कोई-कोई शाखावाले भेददृष्टिकी निन्दा करते हुए अभेदका ही प्रतिपादन करते हैं। [उनका कथन है कि] "यह मनसे ही प्राप्त किया जा सकता है", "यहाँ नाना कुछ नहीं है", "यहाँ जो अनेकवत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है", "उसे एकरूप ही देखना चाहिये", तथा "भोक्ता, भोग्य और प्रेरक मानकर जिसे तीन प्रकारका कहा गया है वह सब ब्रह्म ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे भोक्ता, भोग्य और प्रेरकरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही कहा गया है।

पुनरपि निर्विशेषपक्षे दृढीकृते सविशेषत्वमाशङ्क्य **किमित्येकस्वरूपस्य** तन्निरसनं **उभयस्वरूपासम्भवे-** श्रुतिविरोध- परिहारश्च **ऽनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमित्याशङ्क्य "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" (ब्र० सू० ३। २। १४) इति**

इस प्रकार फिर भी निर्विशेष पक्षकी ही पुष्टि होनेपर एकस्वरूप ब्रह्मका उभयरूप होना असम्भव है, इसलिये ब्रह्मको निराकार ही क्यों निश्चय किया जाता है, उससे विपरीत साकार क्यों नहीं माना जाता ऐसी आशङ्का कर "अरूपवदेव[2] हि तत्प्रधानत्वात्" इस सूत्रसे यह कहा

१-अपि तु किसी-किसी शाखावाले इस प्रकार ही [अर्थात् भेदकी निन्दापूर्वक अभेदका ही] प्रतिपादन करते हैं।

२-ब्रह्म रूपरहित ही है, क्योंकि प्रधानतया ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली "अस्थूलम्" इत्यादि श्रुति निर्गुणप्रधान ही है।

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। कस्मात्? तत्प्रधानत्वात्। "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्।" (बृ० उ० ३। ८। ८) "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (क० उ० १। ३। १५)। "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म" (छा० उ० ४। १४। ७) "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्येतदनुशासनम्" (बृ० उ० २। ५। १९) इत्येवमादीनि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि। इतराणि कारणब्रह्मविषयाणि न तत् प्रधानानि। तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति। अतस्तत्पर-

है कि ब्रह्मको रूपादि आकारोंसे रहित ही निश्चय करना चाहिये। क्यों?—इसलिये कि निर्विशेष वाक्य ही ब्रह्मका प्रधानतया प्रतिपादन करते हैं। यथा—"ब्रह्म न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है," "ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूपहीन तथा अविनाशी है", "आकाश (आकाशसंज्ञक ब्रह्म) ही नामरूपका निर्वाहक है, वे जिसके अन्तर्गत हैं वह ब्रह्म है", "वह ब्रह्म कारण-कार्यसे रहित तथा अन्तर्बाह्यशून्य है, यह आत्मा सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है—यही वेदकी आज्ञा है" इत्यादि वाक्य प्रधानतया निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्वके ही प्रतिपादक हैं।* अन्य जो कारणब्रह्मविषयक वाक्य हैं उनका मुख्य तात्पर्य ब्रह्मतत्त्वके प्रतिपादनमें नहीं है। किसी भी ज्ञातव्य वस्तुके सम्बन्धमें अतत्प्रधान[1] वाक्योंकी अपेक्षा तत्प्रधान[2] वाक्य ही बलवान् होते हैं। अतः प्रधानतया ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली

* उनका मुख्य तात्पर्य प्रपञ्चको चेतनसे अभिन्न सिद्ध करनेमें ही है।

१-जिन वाक्योंमें ज्ञातव्य वस्तुकी चर्चा तो रहती है, पर उनका मुख्य तात्पर्य उस वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें नहीं होता, वे 'अतत्प्रधान' कहलाते हैं।

२-जो वाक्य मुख्यतया ज्ञातव्य 'वस्तु' के तत्त्वका ही प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य रखते हैं, वे 'तत्प्रधान' कहे जाते हैं।

श्रुतिप्रतिपन्नत्वान्निर्विशेषमेव ब्रह्मावगन्तव्यं न पुनः सविशेषमिति निर्विशेषपक्षमुपपाद्य का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिः? इत्याकाङ्क्षायां "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्" (ब्र० सू० ३। २। १५) इति चन्द्रसूर्यादीनां जलाद्युपाधिकृतनानात्ववच्च ब्रह्मणोऽप्युपाधिकृतनानात्वरूपस्य विद्यमानत्वात्तदाकारवतो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते।

श्रुतियोंसे ज्ञात होनेके कारण ब्रह्मको निर्विशेष ही मानना चाहिये, सविशेष नहीं। इस प्रकार निर्विशेष पक्षका समर्थन करनेपर ऐसी आशङ्का होनेपर कि 'फिर साकारब्रह्मपरा श्रुतियोंकी क्या गति होगी?' "प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्[1]" इस सूत्रसे यह बतलाया है कि जलादि उपाधियोंके कारण प्रतीत होनेवाले चन्द्र-सूर्यादिके नानात्वके समान ब्रह्मका भी उपाधिकृत नानात्वरूप विद्यमान है। अतः उपासनाके लिये औपाधिक आकारवान् ब्रह्मके किसी आकारविशेषका उपदेश करनेमें भी कोई विरोध नहीं है।

निर्विशेषपक्षदृढीकरणम्

एवमवैयर्थ्यं नानाकारब्रह्मविषयाणां वाक्यानामिति भेदश्रुतीनामौपाधिकब्रह्मविषयत्वेनावैयर्थ्यमुक्त्वा पुनरपि निर्विशेषमेव ब्रह्मेति द्रढयितुम् "आह च तन्मात्रम्" (ब्र० सू० ३। २। १६) इति। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रस-

इस प्रकार नानारूप ब्रह्मविषयक श्रुतिवाक्य भी व्यर्थ नहीं है—इस तरह औपाधिक ब्रह्मविषयिणी होनेसे भेद-श्रुतियोंकी अव्यर्थता बतलाकर फिर भी यह दृढ़ करनेके लिये कि 'ब्रह्म निर्विशेष ही है' उन्होंने "आह[2] च तन्मात्रम्" इस सूत्रकी अवतारणा की है। इस सूत्रमें "जिस प्रकार नमकका डला बाहर-भीतरसे शून्य

१-[भिन्न-भिन्न उपाधियोंमें तदनुरूप आकार धारण करनेवाले] प्रकाशके समान उपाधिभेदसे सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी व्यर्थ नहीं है।

२-श्रुतिने ब्रह्मकी चिन्मात्रताका प्रतिपादन किया है।

घन एव। एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'' (बृ० उ० ४। ५। १३) इति श्रुत्युपन्यासेन विज्ञानव्यतिरिक्तरूपान्तराभावमुपन्यस्य ''दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते'' (ब्र० सू० ३। २। १७) इति। ''अथात आदेशो नेति नेति'' (बृ० उ० २। ३। ६)। ''अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'' (के० उ० १। ३)। ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' (तैत्ति० उ० २। ४। १)।

''प्रत्यस्तमितभेदं यत्
सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं
तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्।''
''विश्वस्वरूपवैरूप्यं
लक्षणं परमात्मनः।''

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युपन्यासमुखेन प्रत्यस्तमितभेदमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य ''अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्'' (ब्र० सू० ३। २। १८) इति। यत एव

[अर्थात् बाहर-भीतर एक समान केवल घनीभूत रस ही है] इसी प्रकार यह आत्मा बाहर-भीतरके भेदसे रहित सब-का-सब घनीभूत प्रज्ञान ही है'' इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए उन्होंने यह दिखलाकर कि विज्ञानसे भिन्न और कोई रूप है ही नहीं ''दर्शयति[1] चाथो अपि स्मर्यते'' यह सूत्र कहा है। इसमें ''इससे आगे श्रुतिका यही आदेश है—यह आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है'', ''वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी परे है'', ''जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है'', ''जो भेदसे रहित, सत्तामात्र, वाणीका अविषय और स्वसंवेद्य है वही ब्रह्म-संज्ञक ज्ञान है'', ''सर्वरूपसे विलक्षण होना—यह परमात्माका लक्षण है'' इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंका उल्लेख करके ब्रह्म सर्वभेदशून्य ही है—ऐसा प्रतिपादन कर उन्होंने ''अत[2] एव चोपमा सूर्यकादिवत्'' यह सूत्र कहा है। [इसमें यह बतलाया है—] क्योंकि

१-'अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको निर्विशेष प्रदर्शित करती है और 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यादि स्मृति भी ऐसा ही कहती है।

२-इसलिये [सविशेष ब्रह्मके विषयमें] जलप्रतिविम्बित सूर्यके समान उपमा दी जाती है।

चैतन्यमात्ररूपो नेति नेत्यात्मको विदिताविदिताभ्यामन्यो वाचामगोचरः प्रत्यस्तमितभेदो विश्वस्वरूपविलक्षणस्वरूपः परमात्माविद्योपाधिको भेदः। अत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यादिरिवेत्युपमा दीयते मोक्षशास्त्रेषु।

''आकाशमेकं हि यथा
घटादिषु पृथक्पृथक्।
तथात्मैको ह्यनेकश्च
जलाधारेष्विवांशुमान् ॥''
(याज्ञ० ३। १४४)

''एक एव तु भूतात्मा
भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव
दृश्यते जलचन्द्रवत्॥''

''यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा॥''

परमात्मा चैतन्यमात्रस्वरूप, यह भी नहीं, यह भी नहीं, इत्यादि रूपसे उपलक्षित स्वरूपवाला, ज्ञात और अज्ञातसे भिन्न, वाणीका अविषय, सब प्रकारके भेदसे रहित और सम्पूर्ण रूपोंसे विलक्षण स्वरूपवाला है, इसलिये भेद अविद्यारूप उपाधिके कारण है। इसीसे इसकी उपाधि-निमित्तक अपारमार्थिकी विशेषरूपताके आशयसे ही मोक्षशास्त्रोंमें 'भेद जलमें प्रतिविम्बित सूर्यादिके समान है' ऐसी उपमा दी जाती है।

''जिस प्रकार घटादि उपाधियोंमें एक ही आकाश पृथक्-पृथक्-सा भासने लगता है, उसी प्रकार विभिन्न जलाशयोंमें प्रतिविम्बित हुए सूर्यके समान एक ही आत्मा अनेक-सा जान पड़ता है।'' ''विभिन्न भूतोंमें एक ही भूतात्मा स्थित है, जो जलमें दिखायी देते हुए चन्द्रमाओंके समान एक और अनेक रूपोंमें भी देखा जाता है।'' ''जिस प्रकार यह ज्योतिःस्वरूप एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलाशयोंका अनेक रूप होकर अनुगमन करता है, उसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रोंमें यह एक ही अजन्मा आत्मदेव उपाधिके द्वारा अनेक रूप कर दिया जाता है।''

इति दृष्टान्तबलेनापि निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युपपाद्य "अम्बुवदग्रहणात्" (ब्र० सू० ३।२।१९) इत्यात्मनोऽमूर्तत्वेन सर्वगतत्वेन जलसूर्यादिवन्मूर्तसंभिन्नदेशस्थितत्वाभावाद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सादृश्यं नास्तीत्याशङ्क्य "वृद्धिह्रासभाक्त्वम्" (ब्र० सू० ३। २। २०) इति न हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विवक्षितांशमुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते। सर्वसारूप्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। वृद्धिह्रासभाक्त्वमत्र विवक्षितम्। जलगतसूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे च ह्रसति जल-

इस प्रकार दृष्टान्तके बलसे भी यही सिद्ध करके कि ब्रह्म निर्विशेष ही है "अम्बुवदग्रहणात्तु[1] न तथात्वम्" इस सूत्रसे यह आशङ्का की है कि आत्मा अमूर्त और सर्वगत है; अतः जल सूर्यादिके समान उसका मूर्तरूपसे किसी देशविशेषमें स्थित होना सम्भव न होनेके कारण इन दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकोंकी समता नहीं है। इसपर "वृद्धिह्रासभाक्त्व[2]मन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" इस सूत्रसे यह दिखलाया है कि विवक्षित अंशको छोड़कर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी सर्वांशमें समानता कोई भी नहीं दिखला सकता। यदि सर्वांशमें समानता हो जायगी तो उनका दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव ही नहीं रहेगा। यहाँ (जलसूर्यादि दृष्टान्तमें) तो उनका वृद्धिह्रासयुक्त होना ही विवक्षित है। जिस प्रकार जलमें पड़ा हुआ सूर्यका प्रतिविम्ब जलके बढ़नेपर बढ़ता, जलके घटनेपर घटता

१-सूर्यसे भिन्न जलके समान सविशेष ब्रह्मकी उपाधि उससे भिन्न गृहीत न होनेके कारण सूर्यके प्रतिविम्बसे उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।

२-जिस प्रकार सूर्यप्रतिविम्ब जलकी वृद्धि और ह्रास होनेपर स्वयं भी वृद्धि और ह्रासका भागी होता है उसी प्रकार आत्मा वास्तवमें अविकारी और एकरूप होनेपर भी देहादि उपाधियोंके अन्तर्भूत होकर उनके वृद्धि और ह्रासका भागी होता है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनोंमें सामञ्जस्य होनेके कारण कोई विरोध नहीं है।

चलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुविधायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तत्त्वमस्ति। एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत एवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीनिति विवक्षितांशप्रतिपादनेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यमुक्त्वा "दर्शनाच्च" (ब्र० सू० ३। २। २१) इति "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्" (बृ० उ० २। ५। १८)। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २। ५। १९)। "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० उ० ४। १०)। "मायी सृजते विश्वमेतम्" (श्वेता० उ० ४। ९)। "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" (क० उ० २। २। ९-१०)। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० उ० ६। ११)।

जलके चलनेपर चलता और जलका भेद होनेपर भिन्न-सा हो जाता है, इस प्रकार वह जलके धर्मोंका अनुकरण करता है, उसमें वे विकार वास्तविक नहीं होते, उसी प्रकार परमार्थतः अविकारी और एकरूप होनेपर भी ब्रह्म देहादि उपाधियोंके अन्तर्गत रहनेसे उन उपाधियोंके वृद्धि-ह्रासादि धर्मोंको ग्रहण करता ही है—इस प्रकार विवक्षित अंशके प्रतिपादनसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका सामञ्जस्य बतलाकर "दर्शनाच्च[१]" इस सूत्रांशसे "परमपुरुषने दो चरणोंवाला पुर (शरीर) बनाया, चार पैरोंवाला पुर बनाया और वह पक्षी होकर उन पुरोंमें प्रवेश कर गया", "इन्द्र मायाद्वारा अनेक रूपवाला हो जाता है", "मायाको प्रकृति जानो और मायावीको महेश्वर", "मायावी इस विश्वकी रचना करता है", "उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा भिन्न-भिन्न रूपोंके अनुरूप हो गया है", "समस्त भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है",

१-श्रुतियाँ भी देहादि उपाधियोंमें ब्रह्मका अनुप्रवेश दिखलाती हैं।

"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० उ० १। ३। १२)। "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" (बृ० उ० १। ४। ७)। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तैत्ति० उ० २। ६। १) इत्यादिना परस्यैव ब्रह्मण उपाधियोगं दर्शयित्वा निर्विशेषमेव ब्रह्म। भेदस्तु जलसूर्यादिवदौपाधिको मायानिबन्धन इत्युपसंहृतवान्।

"इस मूर्धसीमाको ही विदीर्ण कर वह इसीके द्वारा शरीरमें प्रवेश कर गया", "वह नखके अग्रभागसे लेकर शिखातक इस शरीरमें प्रवेश किये हुए है", "उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा परब्रह्मको ही उपाधिकी प्राप्ति दिखलाकर इस प्रकार उपसंहार किया है कि ब्रह्म निर्विशेष ही है; उसका जो मायाजनित भेद है वह जल-सूर्यादिके समान उपाधिके कारण है।

प्रपञ्चस्य बाधितत्वे ब्रह्मविदनुभवप्रदर्शनम्।

किञ्च ब्रह्मविदामनुभवोऽपि प्रपञ्चस्य बाधकः। तेषां निष्प्रपञ्चात्मदर्शनस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि तेषामनुभवं दर्शयति। "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७)। "विदिते वेद्यं नास्ति" इति। एवं निर्वाणमनुशासनम्। "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० उ० ४। ३। ३१)। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० ४। ५। १५)।

इसके सिवा ब्रह्मवेत्ताओंका अनुभव भी प्रपञ्चका बाधक है, क्योंकि उन्हें निष्प्रपञ्च आत्माका अनुभव रहता है। ऐसा ही यह श्रुति उनका अनुभव प्रदर्शित करती है— "जिस स्थितिमें ज्ञानीको सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, उसमें उस एकत्वदर्शीके लिये क्या शोक और क्या मोह हो सकता है?" "बोध हो जानेपर कोई श्रेय नहीं रहता" इत्यादि। इस प्रकार निर्वाणका भी उपदेश किया है—"जहाँ अन्य-सा हो वहाँ अन्य अन्यको देखे", किन्तु "जिस स्थितिमें इसे सब आत्मा ही हो गया है उसमें किससे किसे देखे?"

''यदेतद्दृश्यते मूर्त-
मेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति
जगद्रूपमयोगिनः ॥
ये तु ज्ञानविदः शुद्ध-
चेतसस्तेऽखिलं जगत्।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति
त्वद्रूपं पारमेश्वरम्॥''
(विष्णुपु० १। ४। ३९, ४१)

''निदाघोऽप्युपदेशेन
तेनाद्वैतपरोऽभवत् ॥
सर्वभूतान्यशेषेण
ददर्श स तदात्मनः।
तथा ब्रह्म ततो मुक्ति-
मवाप परमां द्विजः॥''
(विष्णुपु० २। १६। १९-२०)

''अत्रात्मव्यतिरेकेण
द्वितीयं यो न पश्यति।
ब्रह्मभूतः स एवेह
वेदशास्त्र उदाहृतः॥''

उपनिषदारम्भप्रयोजनोपसंहारः

इत्येवं श्रुतिस्मृतियुक्तितोऽनुभवतश्च प्रपञ्चस्य बाधितत्वादत्यन्तविलक्षणानामसदृशरूपाणां मधुरतिक्तश्वेतपीतादीनामपि परस्पराध्यासदर्शनादमूर्तेऽप्याकाशे तलमलिनताद्यध्यासदर्शनादात्मानात्मनोरत्यन्तविलक्षणयोर्मूर्तामूर्तयो-

''यह जो कुछ मूर्त्त जगत् दिखायी देता है वह ज्ञानस्वरूप आपका ही रूप है। अज्ञानीलोग भ्रान्तिज्ञानके कारण इसे जगद्रूप देखते हैं। किन्तु जो शुद्धचित्त ज्ञानवान् पुरुष हैं वे इस सम्पूर्ण जगत्को आप ज्ञानस्वरूप परमात्माका ही स्वरूप देखते हैं।'' ''ऋभुके उस उपदेशसे निदाघ भी अद्वैतपरायण हो गया और सब प्राणियोंको सर्वथा आत्मस्वरूप देखने लगा तथा उसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो गया। फिर उस ब्राह्मणको आत्यन्तिक मोक्षपद प्राप्त हो गया।'' ''इस लोकमें जो पुरुष आत्मासे भिन्न अन्य कुछ नहीं देखता, उसीको वेद और शास्त्रोंमें ब्रह्मभूत कहा है।''

इस प्रकार श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभवसे भी प्रपञ्च बाधित है, अत्यन्त विलक्षण और विभिन्न रूपवाले मधुर-तिक्त एवं श्वेत-पीतादि पदार्थोंका भी परस्पर अध्यास देखा जाता है और अमूर्त्त आकाशमें भी तलमलिनतादिका अध्यास देखा गया है, इसलिये परस्पर अत्यन्त विलक्षण मूर्तिमान् और मूर्त्तिहीन अनात्मा

रपि तथा सम्भवात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति देहात्मनोरध्यासानुभवात्।

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं
हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो
नायं हन्ति न हन्यते॥"
(क० उ० १।२।१९)

इत्यादिश्रुतिदर्शनाद् "य एनं वेत्ति हन्तारम्" (गीता २।१९) "प्रकृतेः क्रियमाणानि" (गीता ३।२७) इतिस्मृति-दर्शनाच्चाध्यासस्य प्रहाणायात्मैकत्व-विद्याप्रतिपत्तय उपनिष-दारभ्यते।

एवं आत्माका भी अध्यास होना सम्भव है तथा 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इस प्रकार देह और आत्माके अध्यासका अनुभव भी होता ही है, एवं "यदि मारनेवाला होकर किसीको मारना चाहता है अथवा मारा जानेवाला होकर अपनेको मारा हुआ मानता है—तो वे दोनों ही आत्माको नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा तो न मारता है और न मारा जाता है" इत्यादि श्रुति देखी जाती है तथा "जो इसे मारनेवाला समझता है" "प्रकृतिके गुणोंसे किये जाते हुए कर्मोंको" इत्यादि स्मृति-वाक्य भी देखे जाते हैं; इसलिये इस अध्यासके नाश और आत्माकी एकताका बोध करानेवाले ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है।



जगत्-कारण ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें
ब्रह्मवादी ऋषियोंका विचार

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषत्। तस्या अल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते—

'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इत्यादि श्वेताश्वतरशाखाकी मन्त्रोपनिषद् है। उसकी यह संक्षिप्त टीका आरम्भ की जाती है—

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ १॥

ॐ ब्रह्मवेत्तालोग कहते हैं—जगत्का कारणभूत ब्रह्म कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? कहाँ स्थित हैं? और हे ब्रह्मविद्गण! हम किसके द्वारा सुख-दु:खमें प्रेरित होकर व्यवस्था (संसारयात्रा) का अनुवर्तन करते हैं?॥ १॥

ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यादि। ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीलाः सर्वे सम्भूय वदन्ति किं कारणं ब्रह्म किमिति स्वरूपविषयोऽयं प्रश्नः। अथवा कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि 'कालः स्वभावः' इति वक्ष्यमाणम्

'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इत्यादि जो ब्रह्मवादी थे अर्थात् जिनका स्वभाव ब्रह्मचर्चा करनेका था ऐसे लोग सब-के-सब मिलकर चर्चा करने लगे—'किं कारणं ब्रह्म' (जगत्का कारणभूत ब्रह्म कैसा है?) किम् इत्यादि वाक्यसे ब्रह्मके स्वरूपके विषयमें प्रश्न किया गया है। अथवा इस जगत्का कारण ब्रह्म है या 'कालः स्वभावः' आदि वाक्यसे आगे बताये जानेवाले काल आदि।

अथवा किं कारणं ब्रह्म सिद्धिरूपम्। उपादानभूतं किमित्यर्थः। अथवा बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति श्रुत्यैव निर्वचनान्निमित्तोपादानयोरुभयोर्वा प्रश्नः किं कारणं ब्रह्मेति। किं कारणं ब्रह्माहोस्वित्कालादि? अथवाकारणमेव? कारणत्वेऽपि किं निमित्तमुतोपादानम्? अथवोभयम्? किं लक्षणमिति वक्ष्यमाणपरिहारानुरूपेण तन्त्रेणावृत्त्या वा प्रश्नेऽपि संग्रहः कर्तव्यः; प्रश्नापेक्षत्वात्परिहारस्य।

अथवा ब्रह्म [यदि कारण है तो वह उपादान आदि कारणोंमेंसे] कौन-सा कारण है? यानी स्वतःसिद्ध ब्रह्म क्या जगत्का उपादान कारण है? अथवा "बढ़ा हुआ है तथा बढ़ाता है इसलिये परब्रह्म कहा जाता है" इस प्रकार श्रुतिद्वारा ही ब्रह्मशब्दकी व्युत्पत्ति की जानेके कारण उसके निमित्त और उपादान दोनों ही प्रकारके कारण होनेके विषयमें 'ब्रह्म कौन कारण है' ऐसा यह प्रश्न है। [तात्पर्य यह है कि] क्या जगत्का कारण ब्रह्म है अथवा कालादि? या ब्रह्म कारण ही नहीं है? यदि कारण है भी तो निमित्त कारण है या उपादान अथवा दोनों? और उसका लक्षण क्या है? आगे इस प्रकार जो परिहार कहा गया है उसके अनुसार उन सब विषयोंका एक साथ अथवा अलग-अलग प्रश्नमें भी संग्रह कर लेना चाहिये, क्योंकि परिहार तो प्रश्नकी अपेक्षा करके ही होता है।

कुतः स्म जाताः कुतो वयं कार्यकरणवन्तो जाताः? स्वरूपेण जीवानामुत्पत्त्याद्यसम्भवात्। तथा च श्रुतिः—"न जायते म्रियते वा विपश्चिद्" (क० उ० १। २। १८)

हम कहाँसे उत्पन्न हुए हैं—देह और इन्द्रियसम्पन्न हमलोगोंकी किससे उत्पत्ति हुई है? क्योंकि स्वरूपसे तो जीवोंके जन्मादि होने सम्भव हैं नहीं। ऐसी ही ये श्रुतियाँ भी हैं—"यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है"

"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति" (छा० उ० ६। ११। ३)। "जरामृत्यू शरीरस्य"। "अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा" (बृ० उ० ४। ५। १४) इति। तथा च स्मृतिः—"अजः शरीरग्रहणात्संजात इति कीर्त्यते" इति।

किं च, जीवाम केन—केन वा वयं सृष्टाः सन्तो जीवामेति स्थितिविषयः प्रश्नः। क्व च सम्प्रतिष्ठाः प्रलयकाले स्थिताः? अधिष्ठिता नियमिताः केन सुखेतरेषु सुखदुःखेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थां हे ब्रह्मविदः सुखदुःखेषु व्यवस्थां केनाधिष्ठिताः सन्तोऽनुवर्तामह इति सृष्टिस्थितिप्रलयनियमहेतुः किमिति प्रश्नसंग्रहः॥ १॥

"जीवसे रहित होकर यह शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता", "जरा-मृत्यु ये शरीरके धर्म हैं", "हे मैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी और अनुच्छित्तिधर्मा (कभी उच्छिन्न न होनेवाला) है।" ऐसा ही स्मृति भी कहती है—"वह अजन्मा शरीरग्रहण करनेसे 'जन्म लेता है' ऐसा कहा जाता है।"

इसके सिवा [एक प्रश्न यह है—] हम किसके द्वारा जीवित रहते हैं? अर्थात् उत्पन्न होकर हम किसके द्वारा जीवन धारण करते हैं? इस प्रकार यह स्थितिविषयक प्रश्न है। तथा कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं—प्रलयकालमें किसमें स्थित रहते हैं? और हे ब्रह्मविद्गण! किसके द्वारा अधिष्ठित अर्थात् प्रेरित होकर सुखासुख यानी सुख-दुःखमें व्यवस्था (संसार-यात्रा) को बर्तते हैं? अर्थात् हे ब्रह्मवेत्ताओ! हम किसके द्वारा प्रेरित होकर सुख-दुःखमें व्यवस्था (लोक-यात्रा) का अनुवर्तन करते हैं? इस प्रकार किम् इत्यादि प्रश्नसमूह जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और नियमके हेतुके विषयमें है॥ १॥

काल, स्वभाव आदिकी जगत्-कारणताका खण्डन

इदानीं कालादीनि ब्रह्मकारणवादप्रतिपक्षभूतानि विचारविषयत्वेन दर्शयति—

अब श्रुति ब्रह्मकारणवादके विरोधी कालादिको विचारके विषयरूपसे प्रदर्शित करती है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये कारण हैं [या नहीं] इसपर विचारना चाहिये। इसका संयोग भी [अपने शेषी] आत्माके अधीन होनेके कारण कारण नहीं हो सकता तथा जीवात्मा भी सुख-दुःखके हेतु [पुण्यापुण्य कर्मों] के अधीन है। [इसलिये वह भी कारण नहीं हो सकता] ॥ २ ॥

कालः स्वभाव इति। योनिशब्दः सम्बध्यते। कालो योनिः कारणं स्यात्? कालो नाम सर्वभूतानां विपरिणामहेतुः। स्वभावः, स्वभावो नाम पदार्थानां प्रतिनियता शक्तिः; अग्नेरौष्ण्यमिव। नियतिरविषमपुण्यपापलक्षणं कर्म तद्वा कारणम्? यदृच्छाकस्मिकी

'कालः स्वभावः' इत्यादि। इन सबके साथ 'योनिः' शब्दका सम्बन्ध है। क्या काल योनि—कारण हो सकता है? सम्पूर्ण भूतोंकी रूपान्तर-प्राप्तिमें जो हेतु है उसको काल कहते हैं। इसी प्रकार क्या स्वभाव कारण है? पदार्थोंकी नियत शक्तिका नाम स्वभाव है, जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता। अथवा क्या नियति कारण है? पुण्य-पापरूप जो अविषम[१] कर्म हैं वे 'नियति' कहे जाते हैं? या यदृच्छा-

१-जिनका फल कभी विपरीत नहीं होता।

प्राप्तिः। भूतान्याकाशादीनि वा योनिः? पुरुषो वा विज्ञानात्मा योनिः? इतीत्थमुक्तप्रकारेण किं योनिरिति चिन्त्या चिन्त्यं निरूपणीयम्। केचिद्योनिशब्दं प्रकृतिं वर्णयन्ति। तस्मिन्पक्षे किं कारणं ब्रह्मेति पूर्वोक्तं कारणपदमत्राप्यनुसंधेयम्।

आकस्मिक घटना अथवा आकाशादि भूत कारण हैं? या पुरुष यानी विज्ञानात्मा जगत्का कारण है? इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे यह विचारना यानी बतलाना चाहिये कि इसमें कौन कारण है? कोई 'योनिः' शब्दका अर्थ प्रकृति बतलाते हैं? उस अवस्थामें पूर्व मन्त्रमें 'किं कारणं ब्रह्म' इस प्रश्नमें आये हुए कारणपदकी यहाँ भी अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये।

कालादीनाम् अकारणत्वोपपादनम्

तत्र कालादीनामकारणत्वं दर्शयति—संयोग एषामित्यादिना । अयमर्थः—किं कालादीनि प्रत्येकं कारणमुत तेषां समूहः। न च प्रत्येकं कालादीनां कारणत्वं सम्भवति, दृष्टविरुद्धत्वात्। देशकालनिमित्तानां संहतानामेव लोके कार्यकरत्वदर्शनात्। न चाप्येषां कालादीनां संयोगः समूहः कारणम्, समूहस्य संहतेः परार्थत्वेन शेषत्वेन शेषेण आत्मनो विद्य-

इसपर श्रुति 'संयोग एषाम्' इत्यादि वाक्यसे यह प्रदर्शित करती है कि काल आदि कारण नहीं है। इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये—क्या काल, स्वभाव आदिमेंसे प्रत्येक ही कारण है अथवा उन सबका समूह? कालादिमेंसे प्रत्येक तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। लोकमें देश-कालादि निमित्तोंको परस्पर मिलकर ही कार्य करते देखा गया है। और इन कालादिका संयोग यानी समूह भी कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि समूह यानी संहति परार्थ अर्थात् शेष होती है और उसका शेषी आत्मा

मानत्वादस्वातन्त्र्यात्सृष्टिस्थितिप्रलयनियमलक्षणकार्यकरणत्वायोगात्।

आत्मनः सृष्टिकारणत्व- निरासः

आत्मा तर्हि कारणं स्यादेवात आह—आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोरिति। आत्मा जीवोऽप्यनीशोऽस्वतन्त्रो न कारणम्, अस्वातन्त्र्यादेव चात्मनोऽपि सृष्ट्यादिहेतुत्वं न सम्भवतीत्यर्थः। कथमनीशत्वम्? सुखदुःखहेतोः सुखदुःखहेतुभूतस्य पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो विद्यमानत्वात्कर्मपरवशत्वेनास्वातन्त्र्याच्च त्रैलोक्यसृष्टिस्थितिनियमे सामर्थ्यं न विद्यत एवेत्यर्थः। अथवा सुखदुःखादिहेतुभूतस्याध्यात्मिकादिभेदभिन्नस्य जगतोऽनीशो न कारणम्॥ २॥

विद्यमान है ही। अतः स्वतन्त्र न होनेके कारण वह सृष्टि, स्थिति, प्रलय और प्रेरणारूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं है।

तब तो आत्मा कारण हो ही सकता है, इसपर कहते हैं—'आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।' अर्थात् आत्मा यानी जीव भी अनीश—अस्वतन्त्र है—वह भी सृष्टि आदिका कारण नहीं है। तात्पर्य यह है कि अस्वतन्त्रताके ही कारण आत्माका भी सृष्टि आदिमें हेतु होना सम्भव नहीं है। इसकी अस्वतन्त्रता कैसे है? [सो बताते हैं—] सुख-दुःखहेतोः—सुख-दुःखके हेतुभूत पुण्यापुण्यरूप कर्म विद्यमान हैं, अतः उन कर्मोंके अधीन होनेसे इसकी अस्वतन्त्रता है। इसीसे त्रिलोकीकी सृष्टि, स्थिति और नियमनमें इसका सामर्थ्य नहीं ही है—यही इसका अभिप्राय है। अथवा [यों समझना चाहिये कि] आत्मा सुख-दुःखादिके हेतुभूत आध्यात्मिकादि भेदोंवाले जगत्का ईश—कारण नहीं हैं* ॥ २॥



* क्योंकि जो आध्यात्मिकादि भेदोंवाला जगत् आत्माके बन्धन और दुःखका कारण है उसकी वह स्वतन्त्रतासे स्वयं ही क्यों रचना करेगा?

ध्यानके द्वारा ऋषियोंको कारणभूता ब्रह्मशक्तिका साक्षात्कार

एवं पक्षान्तराणि निराकृत्य प्रमाणान्तरागोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरमपश्यन्तो ध्यानयोगानुगमेन परममूलकारणं स्वयमेव प्रतिपेदिर इत्याह—

इस प्रकार अन्य सब पक्षोंका निराकरण कर अब श्रुति यह बतलाती है कि उन ब्रह्मवेत्ताओंने प्रमाणान्तरसे ज्ञान न होनेवाले उस मूलतत्त्वके विषयमें अन्य किसी उपायकी गति न देखकर ध्यानयोगके अनुशीलनद्वारा उस परममूलकारणको स्वयं ही अनुभव कर लिया—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ ३॥

उन्होंने ध्यानयोगका अनुवर्तन कर अपने गुणोंसे आच्छादित परमात्माकी शक्तिका साक्षात्कार किया; जो (परमात्मा) कि अकेले ही कालसे लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणोंके अधिष्ठान हैं॥ ३॥

ते ध्यानयोगेति। ध्यानं नाम चित्तैकाग्र्यं तदेव योगो युज्यतेऽनेनेति ध्यातव्यस्वीकारोपायः, तमनुगताः समाहिता अपश्यन् दृष्टवन्तो देवात्मशक्तिमिति।

'ते ध्यानयोगानुगताः' इत्यादि। ध्यान चित्तकी एकाग्रताको कहते हैं; वही योग है—जिसके द्वारा चित्तको युक्त किया जाय इस व्युत्पत्तिके अनुसार ध्येय वस्तुके ग्रहणका उपाय ही योग है। उसका अनुगमन कर अर्थात् समाहित हो उन्होंने देवात्मशक्तिका दर्शन—साक्षात्कार किया।

पूर्वोक्तमेव प्रश्नसमुदायपरिहाराणां सूत्रमुत्तरत्र प्रत्येकं प्रपञ्चयिष्यते। तत्रायं प्रश्नसंग्रहः—किं ब्रह्म कारणम्? आहोस्वित्कालादि? तथा किं कारणं ब्रह्माहोस्वित्कार्यकारणविलक्षणम्? अथवा कारणं वाकारणं वा? कारणत्वेऽपि किमुपादानमुत निमित्तम्? अथवोभयकारणं ब्रह्म किं लक्षणम्? अकारणं वा ब्रह्म किं लक्षणम्? इति

तत्रायं परिहारः—न कारणं नाप्यकारणं न चोभयं नाप्यनुभयं न च निमित्तं न चोपादानं न चोभयम्। एतदुक्तं भवति—अद्वितीयस्य परमात्मनो न स्वतः कारणत्वमुपादानत्वं निमित्तत्वं च। यदुपाधिकमस्य कारणत्वादि तदेव कारणं निमित्तमुपपाद्य तदेव प्रयोजकं निष्कृष्य

प्रश्नसमुदाय और उसके समाधानोंका जो सूत्र पहले कहा जा चुका है उसीको अब आगे प्रत्येकका विस्तार करके कहा जायगा। इनमें प्रश्नसमुदाय तो इस प्रकार है—क्या ब्रह्म जगत्का कारण है अथवा कालादि? तथा ब्रह्म कारण है या कार्यकारणसे अतीत? अथवा ब्रह्म कारण है या नहीं? यदि कारण है भी तो उपादान कारण है या निमित्त कारण? अथवा दोनों प्रकारका कारण होनेपर भी ब्रह्मका लक्षण क्या है? और यदि वह कारण नहीं है तो भी उसका क्या लक्षण है?

इस प्रश्नसमुदायका यह उत्तर है—ब्रह्म न कारण है, न अकारण है, न कारणाकारण उभयरूप है, न इन दोनोंसे भिन्न है, न निमित्त कारण है, न उपादान कारण है और न दोनों प्रकारका कारण है। यहाँ कहना यह है कि अद्वितीय परमात्माका कारणत्व, उपादानत्व अथवा निमित्तत्व स्वतः कुछ भी नहीं है। जिस उपाधिके कारण इसका कारणत्वादि है उसी कारण यानी निमित्तका उपपादन कर और उसीको प्रयोजक निश्चित करके

दर्शयति—देवात्मशक्तिमिति। देवस्य द्योतनादियुक्तस्य मायिनो महेश्वरस्य परमात्मन आत्मभूतामस्वतन्त्रतां न सांख्यपरिकल्पितप्रधानादिवत्पृथग्भूतां स्वतन्त्रां शक्तिं कारणमपश्यन्। दर्शयिष्यति च—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥" (श्वेता० उ० ४। १०) इति।

तथा ब्राह्मे—"एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्था।" तथा च—'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९। १०) इति।

स्वगुणैः प्रकृतिकार्यभूतैः पृथिव्यादिभिश्च निगूढां संवृतां कार्याकारेण कारणाकारस्याभिभूतत्वात्कार्यात्पृथक्स्वरूपेणोपलब्धुमयोग्यामित्यर्थः। तथा च प्रकृतिकार्यत्वं गुणानां दर्शयति व्यासः—"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।" (गीता १४। ५) इति।

'देवात्मशक्तिम्' इत्यादि वाक्यसे दिखाते हैं—उन्होंने देव—द्योतनादियुक्त मायावी महेश्वर—परमात्माकी स्वरूपभूता, अस्वतन्त्रा शक्तिको कारणरूपसे देखा, सांख्यमतद्वारा कल्पना किये हुए प्रधानादिके समान उससे भिन्न किसी स्वतन्त्रा शक्तिको नहीं। आगे श्रुति यह दिखलावेगी भी—"मायाको प्रकृति जानो और मायावीको महेश्वर।"

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें कहा है—"यह चौबीस प्रकारके भेदोंवाली माया परमात्मासे प्रकट हुई उसीकी पराप्रकृति है।" तथा गीतामें कहा है—"मुझ अधिष्ठानके द्वारा प्रकृति चराचरको उत्पन्न करती है।"

[कैसी शक्तिको देखा—] जो अपने गुणोंसे प्रकृतिके कार्यभूत पृथ्वी आदिसे निगूढ—आच्छादित थी। अर्थात् कारणका स्वरूप कार्यके स्वरूपसे दब जानेके कारण जो कार्यसे पृथक् अपने स्वरूपसे उपलब्ध होनेयोग्य नहीं थी। गुण प्रकृतिके कार्य हैं—यह बात "सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण हैं" इस वाक्यसे व्यासजी भी दिखलाते हैं।

कोऽसौ देवो यस्येयं विश्वजननी शक्तिरभ्युपगम्यत इत्यत्राह—यः कारणानीति। यः कारणानि निखिलानि तानि पूर्वोक्तानि कालात्मयुक्तानि कालात्मभ्यां युक्तानि कालपुरुषसंयुक्तानि स्वभावादीनि 'कालः स्वभावः' इति मन्त्रोक्तान्यधितिष्ठति नियमयत्येकोऽद्वितीयः परमात्मा तस्य शक्तिं कारणमपश्यन्निति वाक्यार्थः।

अथवा देवात्मशक्तिं देवात्मनेश्वररूपेणावस्थितां शक्तिम्। तथा च—

"सर्वभूतेषु सर्वात्मन् या शक्तिरपरा तव।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै परेश्वर॥
यातीतागोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा।
ज्ञानध्यानपरिच्छेद्या तां वन्दे देवतां पराम्"॥ इति प्रपञ्चयिष्यति स्वभावादीना-

यह विश्वको उत्पन्न करनेवाली शक्ति जिसकी समझी जाती है वह देव कौन है? इसपर कहते हैं?—'यः कारणानि' इत्यादि। जो एक अद्वितीय परमात्मा पहले बतलाये हुए कालात्मयुक्त समस्त कारणोंको—काल और आत्मासे युक्त अर्थात् काल और पुरुषसे संयुक्त स्वभावादिको, जो कि 'कालः स्वभावः' इत्यादि मन्त्रमें बतलाये गये हैं, अधिष्ठित—नियमित करता है, उसीकी शक्तिको जगत्के कारणरूपसे देखा—ऐसा इस वाक्यका तात्पर्य है।

अथवा देवात्मशक्तिम्—देवात्मना अर्थात् ईश्वररूपसे स्थित शक्तिको देखा; ऐसा ही यह वाक्य भी है—"हे सर्वात्मन्! आपकी जो गुणोंकी आश्रयभूता अपरा शक्ति समस्त भूतोंमें स्थित है, हे परमेश्वर! उस नित्या शक्तिको नमस्कार है! जो वाणी तथा मनसे अतीत और अगोचर एवं निर्विशेष है तथा ज्ञान और ध्यानसे जिसका भलीभाँति विवेक हो सकता है उस परा देवताकी मैं वन्दना करता हूँ।" इसके अतिरिक्त श्रुति स्वभावादि

मकारणत्वमज्ञानस्यैव कारणत्वं "स्वभावमेके कवयो वदन्ति" (श्वेता० उ० ६। १) इत्यादि। "मायी सृजते विश्वमेतत्" (श्वेता० उ० ४। ९)। "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" (श्वेता० उ० ३। २)। "एको-ऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्" (श्वेता० उ० ४। १) इत्यादि। स्वगुणैरीश्वरगुणैः सर्वज्ञत्वादिभिर्वा सत्त्वादिभिर्निगूढां कार्य-कारणविनिर्मुक्तपूर्णानन्दाद्वितीय-ब्रह्मात्मनैवानुपलभ्यमानाम्।

कोऽसौ देवः? यः कारणानीत्यादि पूर्ववत्। अथवा देवस्य परमेश्वरस्यात्मभूतां जगदुदय-स्थितिलयहेतुभूतां ब्रह्मविष्णु-शिवात्मिकां शक्तिमिति। तथा चोक्तम्—

जगत्के कारण नहीं हैं, अज्ञान ही कारण है—इस बातका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करेगी; यथा—"कोई-कोई विद्वान् स्वभावको ही जगत्का कारण बतलाते हैं" इत्यादि। "मायी परमेश्वर इस विश्वकी रचना करता है", "एक रुद्र ही है, परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते", "वर्ण (जाति) आदि विभेदोंसे रहित जिन एकमात्र—अद्वितीय परमात्माने अपनी नाना प्रकारकी शक्तियोंके योगसे [अनेकों वर्णोंकी सृष्टि की है]" इत्यादि। [कैसी शक्तिको देखा?] अपने गुणोंसे यानी सर्वज्ञत्वादि ईश्वरीय गुणोंसे अथवा सत्त्वादि प्रकृतिके गुणोंसे निगूढ देखा; अर्थात् जो कार्यकारणभावसे रहित पूर्णानन्दाद्वितीय परब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण उपलब्ध नहीं हो सकती [ऐसी शक्तिको देखा]।

वह देव कौन है? [इसका उत्तर देते हैं—] जो सब कारणोंका अधिष्ठान है—इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये। अथवा देव यानी परमेश्वरकी स्वरूपभूता अर्थात् जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयकी हेतुभूता ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपा शक्तिको देखा। ऐसा ही कहा भी है—

"शक्तयो यस्य देवस्य
ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाः" इति।
"ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन्
प्रधाना ब्रह्मशक्तयः"
इति च।

स्वगुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः। सत्त्वेन विष्णू रजसा ब्रह्मा तमसा महेश्वरः सत्त्वाद्युपाधिसम्बन्धात् स्वरूपेण निरुपाधिकपूर्णानन्दाद्वितीय-ब्रह्मात्मनैवानुपलभ्यमानाः। परस्यैव ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकार्यं कुर्वन्तोऽवस्थाभेदमाश्रित्य शक्ति-भेदव्यवहारो न पुनस्तत्त्वभेदमाश्रित्य। तथा चोक्तम्—

"सर्गस्थित्यन्तकरणीं
ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवा-
नेक एव जनार्दनः" इति।
(विष्णुपु० १। २। ६६)

प्रथममीश्वरात्मना मायिरूपेणाव-तिष्ठते ब्रह्म। स पुनर्मूर्तिरूपेण त्रिधा व्यवतिष्ठते। तेन च रूपेण सृष्टिस्थितिसंहाररूप-नियमनादिकार्यं करोति। तथा

"जिस देवकी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपा शक्तियाँ हैं" इत्यादि तथा "हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये ब्रह्मकी प्रधान शक्तियाँ हैं" इत्यादि।

'स्वगुणैः' अर्थात् सत्त्व, रज और तमसे युक्त। सत्त्वादि गुणरूप उपाधिके कारण ही वह सत्त्वसे विष्णु, रजसे ब्रह्मा और तमसे महादेव कहा जाता है, ये सब स्वतः निरुपाधिक पूर्णानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे तो उपलब्ध हो ही नहीं सकते। ये परब्रह्मके ही सृष्टि आदि कार्य करते हैं, इसलिये अवस्थाभेदके आधारपर इनमें शक्तिभेदका व्यवहार होता है, तात्त्विक भेदके कारण नहीं। ऐसा ही कहा भी है—"वह एक ही भगवान् जनार्दन उत्पत्ति, स्थिति और संहारकारिणी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप संज्ञाओंको प्राप्त हो जाता है।"

परब्रह्म पहले तो ईश्वरस्वरूप मायामयरूपसे स्थित होता है। फिर वह मूर्त्तरूप होकर तीन प्रकारका हो जाता है। उस त्रिविधरूपसे वह जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, संहार और नियमनादि कार्य करता है। इसी प्रकार

च श्रुतिः परस्य शक्तिद्वारेण नियमनादिकार्यं दर्शयति—''लोकानीशत ईशनीभिः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः'' (श्वेता० उ० ३। २) इति। ईशनीभिर्जननीभिः परमशक्तिभिरिति विशेषणात्। ''ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन्प्रधाना ब्रह्मशक्तयः'' इति स्मृतेः परमशक्तिभिरिति परदेवतानां ग्रहणम्।

अथवा देवात्मशक्तिमिति देवश्चात्मा च शक्तिश्च यस्य परस्य ब्रह्मणोऽवस्थाभेदास्तां प्रकृतिपुरुषेश्वराणां स्वरूपभूतां ब्रह्मरूपेणावस्थितां परात्परतरां शक्तिं कारणमपश्यन्निति। तथा च त्रयाणां स्वरूपभूतं प्रदर्शयिष्यति—''भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च

श्रुति भी शक्तिके द्वारा परमात्माके नियमनादि कार्य प्रदर्शित करती है। ''परमात्मा अपनी ईशनी शक्तियोंसे लोकोंका शासन करता है, वह सभी प्राणियोंके भीतर विराजमान है। उसने समस्त लोकोंकी सृष्टि करके उसकी रक्षा करते हुए प्रलयकाल आनेपर सबको अपनेमें लीन कर लिया'' इत्यादि। यहाँ 'ईशनीभिः'—उत्पत्तिकारिणी परमशक्तियोंसे ऐसा विशेषण दिया है [इससे जाना जाता है कि ब्रह्म ही अपनी शक्तियोंद्वारा सृष्टि आदि कार्य करता है]। तथा ''हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—ये ब्रह्मकी प्रधान शक्तियाँ हैं'' इस स्मृतिके अनुसार ''परमशक्तिभिः'' इस पदसे इन परदेवताओंका ही ग्रहण होता है।

अथवा 'देवात्मशक्तिम्'—देवता, आत्मा और शक्ति—ये जिस परब्रह्मके अवस्थाभेद हैं उस प्रकृति, पुरुष और ईश्वरकी स्वरूपभूता ब्रह्मरूपसे स्थित परात्पर शक्तिको उन्होंने कारणरूपसे देखा; ऐसा ही इन तीनोंके स्वरूपभूत ब्रह्मका ''भोक्ता (जीव), भोग्य (प्राकृत प्रपञ्च) और प्रेरक (अन्तर्यामी) इन तीनोंको [परमात्मा]

मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'' (श्वेता० उ० १। १२) ''त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्'' (श्वेता० उ० १। ९) इति। स्वगुणैर्ब्रह्मपरतन्त्रैः प्रकृत्यादि विशेषणैरुपाधिभिर्निगूढाम्। तथा च दर्शयिष्यति—''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'' (श्वेता० उ० ६। ११) इति। ''तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्'' (क० उ० १। २। १२)। ''यो वेद निहितं गुहायाम्'' (तै० उ० २। १। १) ''इहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः'' इति श्रुत्यन्तरम्। यः कारणानीति पूर्ववत्।

अथवा देवात्मनो द्योतनात्मनः प्रकाशस्वरूपस्य ज्योतिषां ज्योतीरूपस्य प्रज्ञानघनस्वरूपस्य परमात्मनो जगदुदयस्थितिलय-नियमनविषयां शक्तिं सामर्थ्य-मपश्यन्निति स्वगुणैः स्वव्यष्टिभूतैः सर्वज्ञसर्वेशितृत्वादिभिर्निगूढांतत्त-द्विशेषरूपेणावस्थितत्वात्स्वरूपेण शक्तिमात्रेणानुपलभ्यमानाम्।

जानकर फिर तीन भेदोंमें बताये हुए समस्त तत्त्वोंको ब्रह्म ही समझे'', तथा ''जिस समय इन तीनोंको ब्रह्मरूपसे अनुभव करता है।'' इन वाक्योंसे श्रुति उल्लेख करेगी। [उस शक्तिको] स्वगुणैः—ब्रह्मके आश्रित प्रकृति आदि विशेषणरूप उपाधियोंसे आच्छादित देखा। ऐसा ही ''समस्त भूतोंमें छिपा हुआ एक देव है'' इत्यादि वाक्यसे श्रुति आगे दिखावेगी। तथा इसी अर्थमें ''उस कठिनतासे दीखनेवाले प्रच्छन्नरूपसे अनुप्रविष्टको'' ''जो बुद्धिरूप गुहामें छिपे हुए उस देवको जानता है'' इसी देहके भीतर विद्यमान रहते हुए भी इन्द्रियाँ उसे नहीं जानतीं'' इत्यादि अन्य श्रुतियाँ भी हैं। 'यः कारणानि' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् है।

अथवा देवात्मा—द्योतनात्मक—प्रकाशस्वरूप अर्थात् समस्त तेजोंके तेज प्रज्ञानघनमूर्ति परमात्माकी जगत्‌का सृजन, पालन, संहार और नियन्त्रण करनेवाली शक्ति अर्थात् सामर्थ्यको देखा, जो स्वगुणैः—सर्वज्ञसर्वेशितृत्वादि अपने ही अंशभूत गुणोंसे आच्छादित होनेके कारण उन-उन विशेषरूपोंसे स्थित रहनेके कारण अपने शक्तिमात्र शुद्धरूपसे उपलब्ध

तथा च मानान्तरवेद्यां शक्तिं दर्शयिष्यति—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥"

(श्वेता० उ० ६। ८)

इति। समानमन्यत्।

कारणं देवात्मशक्तिमिति प्रश्ने परिहारे च ये ये पक्षभेदाः प्रदर्शितास्ते सर्वे संगृहीताः। उत्तरत्र सर्वेषां प्रपञ्चनादप्रस्तुतस्य प्रपञ्चनायोगात्प्रश्नोत्तरदर्शनाच्च। समासव्यासधारणस्य च विदुषामिष्टत्वात्। तथा चोक्तम्—"इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्" इति। तथा च श्रुत्यन्तरे सकृच्छ्रुतस्य गोपामितिपदस्य व्याख्याभेदः श्रुत्यैव प्रदर्शितः—

नहीं हो सकती। इसी प्रकार आगे चलकर श्रुति उस शक्तिको अन्य किन्हीं प्रमाणोंसे अज्ञेय ही प्रदर्शित करेगी। "उस परमात्माका कोई कार्य (देह) या करण (इन्द्रिय) नहीं है; उसके समान या उससे अधिक भी कोई नहीं है। उसकी नाना प्रकारकी पराशक्ति और स्वाभाविक ज्ञानके प्रभावसे होनेवाली क्रिया सुनी जाती है।" शेष अर्थ पूर्ववत् है।

'किं कारणम्' और 'देवात्मशक्तिम्' इस प्रश्न और उत्तरमें जो-जो पक्षभेद दिखाये गये हैं उन सबका यहाँ श्रुतिमें संक्षेपसे संग्रह किया हुआ है; क्योंकि आगे इन सबका विस्तारसे निरूपण किया गया है। तथा अप्रस्तुत विषयका विस्तार करना उचित नहीं होता और [इनके विषयमें तो] प्रश्नोत्तर भी देखे गये हैं।* इनका संक्षेप और विस्तारसे जो वर्णन किया गया है वह तो विद्वानोंको इष्ट होनेके कारण है। ऐसा ही कहा भी है—"लोकमें संक्षेप और विस्तारपूर्वक विषयको निश्चित करना विद्वानोंको इष्ट ही है" इसी प्रकार एक दूसरी श्रुतिमें एक बार आये हुए 'गोपाम्' इस पदकी व्याख्याका भेद स्वयं श्रुतिने ही दिखाया

* इससे भी सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त पक्ष श्रुतिसम्मत ही है, क्योंकि यहाँ जितने पक्षान्तर दिखाये गये हैं उन सबमें प्रमाणपूर्वक श्रुतिकी भी सहमति दिखायी ही गयी है।

'अपश्यं गोपामित्याह प्राणा वै गोपाः' इति। 'अपश्यं गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपाः' इति। 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म' इत्यारभ्य 'बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' इति सकृच्छ्रुतस्य ब्रह्मपदस्य निमित्तोपादानरूपेणार्थभेदः श्रुत्यैव दर्शितः॥ ३॥

है। वहाँ 'अपश्यं[1] गोपामित्याह प्राणा वै गोपाः' ऐसा कहा है और फिर दुबारा 'अपश्यं[2] गोपामित्याह असौ वा आदित्यो गोपाः' ऐसा कहा है। इसी प्रकार 'यह ब्रह्म क्यों कहा जाता है' ऐसा कहकर 'बढ़ा हुआ है और बढ़ाता है इसलिये यह परब्रह्म कहा जाता है' ऐसा कहकर श्रुतिमें एक बार आये हुए 'ब्रह्म' पदका स्वयं श्रुतिने ही निमित्त और उपादानभेदसे अर्थभेद दिखलाया है॥ ३॥



एवं तावद् 'देवात्मशक्तिम्' 'यः कारणानि निखिलानि कालात्मना युक्तान्यधितिष्ठत्येकः' इत्येकस्याद्वितीयस्य परमात्मनः स्वरूपेण शक्तिरूपेण च निमित्तकारणोपादानकारणत्वं मायित्वेनेश्वररूपत्वं देवतात्मत्वसर्वज्ञत्वादिरूपत्वममायित्वेन सत्यज्ञानानन्दाद्वितीयरूपत्वं च समासेन श्रुत्यर्थाभ्यामभिहितम्। इदानीं तमेव सर्वात्मानं दर्शयति कार्यकारणयोरनन्यत्वप्रतिपादनेन। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं

इस प्रकार यहाँतक 'परमात्माकी शक्तिको देखा' और 'जो अकेले ही काल और आत्माके सहित सबका अधिष्ठान है' इन दो श्रुतिके अर्थोंसे एक ही परमात्माके स्वरूप और शक्तिरूपसे निमित्त और उपादान कारण होनेका, मायावीरूपसे ईश्वर, देवता और सर्वज्ञादि होनेका और अमायिकरूपसे सत्यज्ञानानन्दस्वरूप एवं अद्वितीय होनेका संक्षेपमें वर्णन किया गया। अब कार्य और कारणकी अभिन्नताका प्रतिपादन करती हुई श्रुति उसीको सर्वरूप दिखलाती है। तथा "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है,

१. मैंने गोपा (पालन करनेवाले) का दर्शन किया, प्राण ही गोपा हैं।
२. मैंने गोपाका दर्शन किया वह सूर्य ही गोपा हैं।

मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' (छा० उ० ६। १। ४) इति निदर्शनेनाद्वितीयापूर्वानपरनेतिनेत्यात्मकवागगोचराशनायाद्यसंस्पृष्टप्रत्यस्तमितभेदचित्सदानन्दब्रह्मात्मत्वं प्रदर्शयितुमनाः प्रकृत्यैव प्रपञ्चभ्रान्तामवस्थां प्राप्तस्य परब्रह्मण ईश्वरात्मना सर्वज्ञत्वापहतपाप्मादिरूपेण देवतात्मना ब्रह्मादिरूपेण कार्यादिरूपेण वैश्वानरादिरूपेण च मोक्षापेक्षितशुद्ध्यर्थाम् ''स यदि पितृलोककामः'' (छा० उ० ८। २। १) इति विश्वैश्वर्यार्थाम् ''मां वा नित्यं शङ्करं वा प्रयाति'' इत्यादिदेवतासायुज्यप्राप्त्यर्थां वैश्वानरादिप्राप्त्यर्थां चोपासनामशेषलौकिकवैदिककर्मप्रसिद्धिं च दर्शयति। यदि कार्यकारणरूपेण स्वरूपेण चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना च व्यवस्थितं न स्यात्तदा भोग्यभोक्तृनियन्त्रभावे संसारमोक्षयोरभाव एव स्यात्। अधिकारिणोऽभावेन साधनभूतस्य प्रपञ्चस्याभावात्। तत्फलदातुश्चेश्वरस्याभावात् ।

केवल मृत्तिका ही सत्य है'' इस दृष्टान्तके द्वारा समर्थित जो अद्वितीय, कार्यकारणभावशून्य, नेति-नेतिस्वरूप, वाणीका अविषय, क्षुधादि विकारोंसे असंस्पृष्ट, सर्वभेदरहित, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मतत्त्व है उसे प्रदर्शित करनेकी इच्छासे स्वभावसे ही प्रपञ्चरूप भ्रान्तिमयी अवस्थाको प्राप्त हुए परब्रह्मकी जो सर्वज्ञत्व और पापशून्यत्वादिरूप ईश्वरभावसे, ब्रह्मादिरूप देवभावसे, [आकाशादिरूप] कार्यभावसे और वैश्वानरादिरूपसे मोक्षापेक्षित चित्तशुद्धि तथा ''यदि वह पितृलोककी कामनावाला होता है'' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण ऐश्वर्यप्राप्ति, ''वह सर्वदा मुझे या शङ्करको प्राप्त होता है'' इत्यादि प्रमाणके अनुसार इष्टदेवसे सायुज्यप्राप्ति एवं वैश्वानरादि भावोंकी प्राप्तिके लिये उपासना है उसको तथा सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्म-परम्पराको प्रदर्शित करती है। यदि परमात्मा कार्य-कारणरूपसे और स्वरूपतः सच्चिदानन्दाद्वितीय ब्रह्मरूपसे स्थित न होता तो भोक्ता, भोग्य और नियन्ताका अभाव हो जानेसे संसार और मोक्षका भी अभाव हो जाता; क्योंकि अधिकारीके न रहनेसे न तो उसका साधनभूत प्रपञ्च रहता है और न उसे साधनका फल देनेवाला ईश्वर ही।

तथा संसारादिहेतुभूतमीश्वरं दर्शयति—"संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" इति। तथा च संसारमोक्षयोरभाव एव स्यात्। तत्सिद्ध्यर्थं प्रपञ्चाद्यवस्थानं दर्शयति—

"एकं पादं नोत्क्षिपति
सलिलाद्धंस उच्चरन्।
स चेदविन्ददानन्दं
न सत्यं नानृतं भवेत्॥"

इति सनत्सुजातोऽप्येकं पादं नोत्क्षिपतीत्यादि। तथा च श्रुतिः—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छा० उ० ३। १२। ६) इति। तत्र प्रथमेन मन्त्रेण सर्वात्मानं ब्रह्म चक्रं दर्शयति द्वितीयेन नदीरूपेण—

तथा "[ईश्वर ही] संसार, मोक्ष, स्थिति और बन्धनका हेतु है" यह शास्त्रवाक्य संसारादिके हेतुभूत ईश्वरको सिद्ध करता है। और ईश्वरके न रहनेपर तो संसार और मोक्षका अभाव ही हो जाना चाहिये था। अतः उसकी सिद्धिके लिये सनत्सुजातजी भी "एकं पादं नोत्क्षिपति" इत्यादि वाक्यसे यह बतलाते हुए कि "हंस (परमात्मा) जल (संसार) से ऊपर रहते हुए भी अपना एक पाद नहीं निकालता। यदि वह [स्वरूपभूत] आनन्दका अनुभव करने लगे तो न सत्य (मोक्ष) ही रहे और न मिथ्या (संसार) ही" ईश्वरकी सिद्धिके लिये प्रपञ्चादिकी स्थिति दिखलाते हैं। ऐसा ही "सम्पूर्ण भूत परमात्माके एक पाद हैं और उसके अमृतमय तीन पाद द्युलोकमें हैं" यह श्रुति भी बतलाती है। यहाँ श्रुति पहले मन्त्रसे सर्वात्मा ब्रह्मको चक्ररूपसे और दूसरे मन्त्रसे नदीरूपसे प्रदर्शित करती है—

कारण-ब्रह्मका चक्ररूपसे वर्णन

**तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ ४॥**

उस एक नेमि, तीन वृत, सोलह अन्त, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, विश्वरूप एकपाश, तीन मार्गों तथा [पाप-पुण्य] दोनोंके निमित्तभूत एक मोहवाले कारणको [उन्होंने देखा*] ॥ ४ ॥

तमेकेति। य एकः कारणानि निखिलान्यधितिष्ठति तमेकनेमिं योनिः कारणमव्याकृतमाकाशं परमव्योम माया प्रकृतिः शक्तिस्तमोऽविद्या छायाज्ञानमनृतमव्यक्तमित्येवमादिशब्दैरभिलप्यमानैका कारणावस्था नेमिरिव नेमिः सर्वाधारो यस्याधिष्ठातुरद्वितीयस्य परमात्मनस्तमेकनेमिम्। त्रिवृतं त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रकृतिगुणैर्वृतम्।

षोडशको विकारः पञ्च भूतान्येकादशेन्द्रियाण्यन्तोऽवसानं विस्तारसमाप्तिर्यस्यात्मनस्तं षोडशान्तम्। अथवा प्रश्नोपनिषदि "यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति" (६। २) इत्यारभ्य "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्"

'तमेकनेमिम्......' इत्यादि। जो अकेला ही समस्त कारणोंमें अधिष्ठित है, उस एक नेमिवालेको [उन्होंने देखा।] जो योनि, कारण, अव्याकृत, आकाश, परव्योम, माया, प्रकृति, शक्ति, तम, अविद्या, छाया, अज्ञान, अनृत और अव्यक्त इत्यादि शब्दोंसे कही जाती है वह एक कारणावस्था ही जिस अधिष्ठाता अद्वितीय परमात्माकी नेमिके समान नेमि अर्थात् सम्पूर्ण कार्यवर्गका आधार है ऐसे उस एक नेमिवाले और 'त्रिवृतम्'—सत्त्व, रज, तमरूप प्रकृतिके तीन गुणोंसे वृत (घिरे हुए) परमात्माको [कारणरूपसे देखा]।

तथा सोलह विकार अर्थात् पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ—ये जिस आत्माके अन्त—अवसान यानी विस्तारकी समाप्ति हैं उस सोलह अन्तोंवाले; अथवा प्रश्नोपनिषद्में "यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति" यहाँसे लेकर "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्"

* अथवा अगले मन्त्रके क्रियापद 'अधीमः' का अध्याहार करके 'हम जानते हैं' ऐसा अर्थ करना चाहिये।

(६। ४) इत्यादिना प्रोक्ता नामान्ताः षोडशकला अवसानं यस्येति। अथवैकनेमिमिति कारणभूताव्याकृतावस्थाभिहिता। तत्कार्यसमष्टिभूतविराट्सूत्रद्वयं तद् व्यष्टिभूतभूरादिचतुर्दश भुवनान्यन्तोऽवसानं यस्य प्रपञ्चात्मनावस्थितस्य तं षोडशान्तम्।

इत्यादि मन्त्रसे कही हुई जो [प्राणसे लेकर] नामपर्यन्त सोलह कलाएँ[1] हैं वे ही जिसका अवसान हैं, [उस आत्माको कारणरूपसे देखा]। अथवा 'एकनेमिम्' इस पदसे कारणभूता अव्याकृतावस्थाका वर्णन किया गया है, उसके समष्टिकार्यभूत विराट् और सूत्रात्मा ये दो और व्यष्टिकार्यभूत भूः आदि चौदह भुवन ये सोलह जिस प्रपञ्चरूपसे स्थित परमात्माके अन्त हैं उस षोडशान्तको [कारणरूपसे देखा]।

शतार्धारम्। पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्या। अरा इव यस्य तं शतार्धारम्। पञ्च विपर्ययभेदाः—तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धतामिस्र इति। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवधा। अष्टधा सिद्धिः। एते पञ्चाशत्प्रत्ययभेदाः। तत्र तमसो भेदोऽष्टविधः। अष्टसु प्रकृतिष्वनात्म-

पचास अरोंवाले—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामक पचास प्रत्ययभेद जिसके अरोंके समान हैं उस पचास अरोंवालेको [देखा]। तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये पाँच विपर्ययके भेद हैं। अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकी है, तुष्टि नौ प्रकारकी और सिद्धि आठ प्रकारकी। ये ही पचास प्रत्ययभेद हैं। इनमें तमके आठ भेद हैं—आत्मभूत आठ प्रकृतियोंमें[2] आत्मभाव होना यही

१. प्रश्नोपनिषद्के षष्ठ प्रश्नमें निम्नलिखित सोलह कलाएँ बतायी हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। वहाँ 'कला' शब्दका अर्थ इस प्रकार है—'कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया, सा कला।' अर्थात् जिसके द्वारा क (ब्रह्म) लीन (ढका हुआ) है उसे कला कहते हैं। इन्होंने ब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपको ढक रखा है, इसलिये ये कलाएँ हैं।

२. सांख्यशास्त्रानुसार प्रधान, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा—ये आठ प्रकृतियाँ हैं—इनमें भी प्रधान केवल प्रकृति है और महदादि सात प्रकृति-विकृति हैं। तथा

स्वात्मप्रतिपत्तिविषयभेदेनाष्टविधत्वप्रतिपत्तेः। मोहस्य चाष्टविधो भेदः। अणिमादिशक्तिर्मोहः। दशविधो महामोहः। दृष्टानुश्रविकशब्दादिविषयेषु पञ्चसु पञ्चस्वभिनिवेशो महामोहः। दृष्टानुश्रविकभेदेन तेषां दशविधत्वम्। तामिस्त्रोऽष्टादशविधः। दृष्टानुश्रविकेषु दशसु विषयेष्वष्टविधैरैश्वर्यैः प्रयतमानस्य तदसिद्धौ यः क्रोधः स तामिस्त्रोऽभिधीयते। अन्धतामिस्त्रोऽप्यष्टादशविधः। अष्टविधैश्वर्ये दशसु विषयेषु भोग्यत्वेनोपस्थितेष्वर्धभुक्तेषु मृत्युना ह्रियमाणस्य यः शोको जायते महता क्लेशेनैते प्राप्ता न चैते मयोपभुक्ताः प्रत्यासन्नश्चायं मरणकाल इति सोऽन्धतामिस्त्र इत्युच्यते।

विपर्ययभेदा व्याख्याताः। अशक्तिरष्टाविंशतिधोच्यते—एकादशेन्द्रियाणामशक्तयो मूकत्व-

भावोंके विषयभेदके अनुसार आठ प्रकारका तम है। मोहका आठ प्रकारका भेद है, अणिमादि आठ शक्तियाँ ही मोह हैं। महामोह दस प्रकारका है; दृष्ट (लौकिक) और श्रुत (पारलौकिक) शब्दादि पाँच-पाँच विषयोंमें जो सत्यत्वबुद्धि है वही महामोह है, दृष्ट और आनुश्रविक भेदसे वे दस प्रकारके हैं। तामिस्त्र अठारह प्रकारका है। आठ प्रकारके ऐश्वर्योंद्वारा दस प्रकारके दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंके लिये प्रयत्न करते हुए उनकी प्राप्ति न होनेपर जो क्रोध होता है वह तामिस्त्र कहलाता है। अन्धतामिस्त्र भी अठारह प्रकारका है। आठ प्रकारके ऐश्वर्य और दसों प्रकारके विषय भोग्यरूपसे उपस्थित रहनेपर उन्हें आधे भोगनेपर ही मृत्युके द्वारा उनसे छुड़ा दिये जानेपर जो ऐसा शोक होता कि मैंने इन्हें बड़े कष्टसे प्राप्त किया था, मैं इन्हें भोग भी नहीं पाया कि यह मरणकाल उपस्थित हो गया—इसे अन्धतामिस्त्र कहते हैं।

इस प्रकार विपर्ययके भेदोंकी तो व्याख्या हो गयी। अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकी कही जाती है। मूकत्व,

श्रीमद्भगवद्गीतामें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारको भगवान्‌की अष्टधा प्रकृति कहा है। किन्तु आगे ये प्रकृतियाँ प्रकृत्यष्टकमें ली हैं, इसलिये यहाँ पूर्वोक्त सांख्यसम्मत प्रकृतियाँ ही समझनी चाहिये।

बधिरत्वान्धत्वप्रभृतयो बाह्याः। अन्तःकरणस्य पुरुषार्थयोग्यतातुष्टीनां विपर्ययेण नवधाशक्तिः। सिद्धीनां विपर्ययेणाष्टधाशक्तिः।

तुष्टिर्नवधा—प्रकृत्युपादानकाल-भाग्याख्याश्चतस्रः। विषयो-परमात्पञ्च। कश्चित्प्रकृति-परिज्ञानात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते। अन्यः पुनः पारिव्राज्यलिङ्गं गृहीत्वा कृतार्थोऽस्मीति मन्यते। अपरः पुनः प्रकृतिपरिज्ञानेन किमाश्रमाद्युपादानेन वा किं बहुना कालेन अवश्यं मुक्तिर्भवतीति मत्वा परितुष्यति। कश्चित्पुनर्मन्यते विना भाग्येन न किञ्चिदपि प्राप्यते। यदि मम भाग्यमस्ति ततो भवत्येवात्रैव मोक्ष इति परितुष्यति। विषयाणामार्जनमशक्यमित्युपरम्य तुष्यति। शक्यमते द्रष्टुमार्जितु-मार्जितस्य रक्षणमशक्यमित्युपरम्य परितुष्यति। सातिशयत्वादिदोष-दर्शनेनोपरम्य परस्तुष्यति। विषयाः सुतरामेवाभिलाषं जनयन्ति न च तद्भोगाभ्यासे तृप्ति-रुपजायते।

बधिरत्व, अन्धत्वादि ग्यारह बाह्य अशक्तियाँ तो इन्द्रियोंकी हैं, पुरुषार्थकी योग्यतारूप तुष्टियोंसे विपरीत नौ अशक्तियाँ अन्तःकरणकी हैं और आठ अशक्तियाँ सिद्धियोंसे विपरीत हैं।

तुष्टि नौ प्रकारकी है—चार तो प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामवाली तथा पाँच विषयोंसे उपरति हो जानेसे होती हैं। (१) कोई पुरुष प्रकृतिका ज्ञान होनेपर ही यह मान लेता है कि मैं कृतार्थ हो गया। (२) कोई संन्यासके चिह्न धारण करनेसे ही 'मैं कृतार्थ हो गया' ऐसा अपनेको मानने लगता है। (३) कोई प्रकृतिका ज्ञान होनेपर ऐसा मानकर सन्तुष्ट हो जाता है कि अब संन्यासाश्रमादि ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है, बहुत काल बीतनेपर अब तो अवश्य मुक्ति हो ही जायगी। (४) कोई ऐसा मानने लगता है कि बिना भाग्यके कुछ भी नहीं मिलता, यदि मेरा भाग्य होगा तो मुझे अवश्य यहीं मोक्ष प्राप्त हो जायगा—ऐसा समझकर वह सन्तुष्ट हो जाता है। (५) कोई यह मानकर कि विषयोंका उपार्जन करना असम्भव है, उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है। (६) कोई यह सोचकर कि विषयोंका दर्शन और उपार्जन तो सम्भव है, परन्तु उपार्जित विषयोंकी रक्षा करना सम्भव नहीं है, उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। (७) कोई विषयोंमें

"न जातु कामः कामाना-
मुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवाभिवर्धते॥"
(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

इति। तस्मादलमनेन पुनः पुन-रसन्तोषकारणेनोपभोगेनेत्येवंसङ्ग-दोषदर्शनादुपरम्य कश्चित्तुष्यति। नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवति। भूतोपघातभोगाच्चाधर्मः अधर्मान्नरकादिप्राप्तिरिति हिंसा-दोषदर्शनात्कश्चिदुपरम्य तुष्यति। प्रकृत्युपादानकालभाग्याश्चतस्त्रः। विषयाणामार्जनरक्षणविषयदोष-सङ्गहिंसादोषात्पञ्च तुष्टय इति नव तुष्टयो व्याख्याताः।

सिद्धयोऽभिधीयन्ते—ऊहः शब्दो-ऽध्ययनमिति तिस्रः सिद्धयः। दुःखविघातास्तिस्रः। सुहृत्प्राप्ति-

न्यूनाधिकतादि दोष देखनेसे उनसे उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाता है। (८) विषय तो तत्सम्बन्धी अभिलाषाको ही उत्पन्न करते हैं, उनके पुनः-पुनः भोगसे कभी तृप्ति नहीं होती, "विषयोंकी इच्छा उनके भोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु घृतसे अग्निके समान वह और भी बढ़ जाती है।" अतः पुनः-पुनः असन्तोषके हेतुभूत इन विषयोंके भोगको छोड़ो—इस प्रकार विषयासक्तिमें दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। (९) जीवोंकी हिंसा किये बिना भोग मिलना सम्भव नहीं है और जीवहिंसापूर्वक भोग भोगनेसे अधर्म होगा तथा अधर्मसे नरकादिकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार हिंसारूप दोष देखकर कोई उनसे उपरत होकर सन्तोष कर लेता है। इस प्रकार प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार एवं विषयोंके उपार्जन, रक्षण, विषयतारतम्यरूप दोष, संग और हिंसा—इन दोषोंके कारण होनेवाली पाँच—ऐसी इन नौ तुष्टियोंकी व्याख्या कर दी गयी।

अब सिद्धियाँ बतलायी जाती हैं—तीन सिद्धियाँ तो ऊह, शब्द और अध्ययन नामकी हैं, तीन दुःखविघात नामवाली

र्दानमिति सिद्धिद्वयम्। ऊहस्तत्त्वं जिज्ञासमानस्योपदेशमन्तरेण जन्मान्तर-संस्कारवशात्प्रकृत्यादिविषयं ज्ञानमुत्पद्यते सेयमूहो नाम प्रथमा सिद्धिः। शब्दो नामाभ्यास-मन्तरेण श्रवणमात्राद्यज्ज्ञान-मुत्पद्यते सा द्वितीया सिद्धिः। अध्ययनं नाम शास्त्राभ्यासा-द्यज्ज्ञानमुत्पद्यते सा तृतीया सिद्धिः। आध्यात्मिकस्याधिभौतिकस्याधि-दैविकस्य त्रिविधदुःखस्य व्युदासा-च्छीतोष्णादिजन्यदुःखसहिष्णो-स्तितिक्षोर्यज्ज्ञानमुत्पद्यते तस्य आध्यात्मिकादिभेदात्सिद्धेस्त्रैविध्यम्। सुहृदं प्राप्य या सिद्धिर्ज्ञानस्य सा सुहृत्प्राप्तिर्नाम सिद्धिः। आचार्यहितवस्तुप्रदानेन या सिद्धिर्विद्यायाः सा दानं नाम सिद्धिः। एवमष्टविधा सिद्धि-र्व्याख्याता।

एवं विपर्ययाशक्तितुष्टि-सिद्ध्याख्याः पञ्चाशत्प्रत्यय-भेदा व्याख्याताः। एवं ब्राह्म-पुराणे कल्पोपनिषद्व्याख्यान-

हैं और दो सुहृत्प्राप्ति एवं दान हैं। ऊह—तत्त्वजिज्ञासुको उपदेशके बिना ही जन्मान्तरके संस्कारसे जो प्रकृति आदिके विषयमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह ऊह नामकी पहली सिद्धि है। बिना अभ्यासके केवल श्रवणमात्रसे ही जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है वह शब्द नामकी दूसरी सिद्धि है। शास्त्रके अभ्याससे जो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसे अध्ययन कहते हैं, यह तीसरी सिद्धि है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखोंकी उपेक्षा करनेसे शीतोष्णादिजनित दुःख सहन करनेवाले तितिक्षु पुरुषको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह दुःखविघात नामकी सिद्धि है; आध्यात्मिकादि भेदके कारण इस सिद्धिके भी तीन प्रकार हैं। किसी सुहृद्के प्राप्त होनेपर जो ज्ञानकी सिद्धि होती है वह सुहृत्प्राप्ति नामकी सिद्धि है। आचार्यको उनकी प्रिय वस्तु दान करनेसे जो ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह दान नामकी सिद्धि है। इस प्रकार आठ प्रकारकी सिद्धियोंकी भी व्याख्या की गयी।

इस तरह यह विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नामक पचास प्रत्ययभेदोंकी व्याख्या हुई। ब्राह्मपुराणमें कल्पोपनिषद्की व्याख्याके प्रसङ्गमें साठवें

प्रदेशे षष्टितमाध्याये पञ्चाशत् प्रत्ययभेदाः प्रतिपादिताः। अथवा ''पञ्चाशच्छक्तिरूपिणः'' इति परस्य याः शक्तयः पुराणे स्वरूपत्वेनाभिमताः पञ्चाशच्छक्तय अरा इव यस्य तं शतार्धारम्।

विंशतिप्रत्यराभिः। विंशतिप्रत्यरा दशेन्द्रियाणि तेषां च विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनादान-विहरणोत्सर्गानन्दाः। पूर्वोक्तानामराणां प्रत्यरा ये प्रतिविधीयन्ते कीलका अराणां दार्ढ्याय ते प्रत्यरा इत्युच्यन्ते। तैः प्रत्यरैर्युक्तम्। अष्टकैः षड्भिर्युक्तमिति योजनीयम्।

''भूमिरापोऽनलो वायुः
　　खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे
　　भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥''
　　　　(गीता० ७। ४)

इति प्रकृत्यष्टकम्। त्वक्चर्म-मांसरुधिरमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धात्वष्टकम्। अणिमाद्यैश्वर्याष्टकम्। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्या-नैश्वर्याख्यभावाष्टकम्। ब्रह्म-प्रजापतिदेवगन्धर्वयक्षराक्षस-

अध्यायमें पचास प्रत्ययभेदोंकी इसी प्रकार व्याख्या की गयी है। अथवा ''पञ्चाश-च्छक्तिरूपिणः'' इस पुराणवाक्यमें परमात्माकी जिन शक्तियोंका उनके स्वरूपरूपसे वर्णन किया है वे ही जिसके अरोंके समान हैं उस शतार्धार (पचास अरोंवाले) को [कारणरूपसे देखा]।

बीस प्रत्यरोंसे युक्त। दस इन्द्रियाँ और उनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान (ग्रहण), गति, त्याग और आनन्द—ये बीस प्रत्यर हैं। जो पूर्वोक्त अरोंके प्रति अरे—अरोंकी दृढ़ताके लिये जो शलाकाएँ लगायी जाती हैं वे प्रत्यर कहलाते हैं। उन प्रत्यरोंसे युक्त तथा छः अष्टकोंसे युक्तको [कारणरूपसे देखा]—ऐसी योजना करनी चाहिये। ''पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह मेरी आठ भेदोंवाली प्रकृति है'' यह गीतोक्त प्रकृत्यष्टक है; त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र यह धात्वष्टक है; अणिमादि[1] ऐश्वर्याष्टक है; धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—यह भावाष्टक है; ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष,

१. अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ ऐश्वर्य हैं।

पितृपिशाचा देवाष्टकम्। अष्टावात्मगुणा ज्ञेयाः, दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति गुणाष्टकं षष्ठम्। एतैः षड्भिर्युक्तम्।

विश्वरूपैकपाशं स्वर्गपुत्रान्नाद्यादिविषयभेदाद्विश्वरूपं विश्वरूपो नानारूप एकः कामाख्यः पाशोऽस्येति विश्वरूपैकपाशम्। धर्माधर्मज्ञानमार्गभेदा अस्येति त्रिमार्गभेदम्। द्वयोः पुण्यपापयोर्निमित्तैकमोहो देहेन्द्रियमनोबुद्धिजात्यादिष्वनात्मस्वात्माभिमानोऽस्येति द्विनिमित्तैकमोहम्। अपश्यन्निति क्रियापदमनुवर्तते। अधीम इत्युत्तरमन्त्रसिद्धं वा क्रियापदम्॥ ४॥

राक्षस, पितृगण और पिशाच—यह देवाष्टक है, और आठ जिन्हें आत्माके गुण जानने चाहिये, वे समस्त प्राणियोंके प्रति दया, क्षमा, अनसूया (निन्दा न करना), शौच, अनायास, मङ्गल, अकृपणता और अस्पृहा—ये छठा गुणाष्टक हैं; इन छः अष्टकोंसे युक्तको [कारणरूपसे देखा]।

विश्वरूप एक पाशवालेको—स्वर्ग, पुत्र एवं अन्नाद्य आदि विषयभेदसे काम नामक एक ही विश्वरूप—अनेक प्रकारका पाश है जिसका उस विश्वरूप एक पाशवालेको धर्म, अधर्म और ज्ञानरूप जिसके मार्गभेद हैं उस तीन मार्गभेदोंवालेको; तथा पाप-पुण्य—इन दोनोंका एक ही निमित्त मोह यानी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं जाति आदि अनात्माओंमें जिसका आत्माभिमान है ऐसे उस दोके [मोहरूप] एक ही निमित्तवालेको [उन्होंने कारणरूपसे देखा] इस प्रकार यहाँ पूर्वमन्त्रकी क्रिया 'अपश्यन्' की अनुवृत्ति होती है, अथवा अगले मन्त्रके क्रियापद 'अधीमः' (जानते हैं) का अध्याहार करना चाहिये॥ ४॥

कार्यब्रह्मका नदीरूपसे वर्णन

पूर्वं चक्ररूपेण दर्शितमिदानीं नदीरूपेण दर्शयति—

पहले जिसे चक्ररूपसे प्रदर्शित किया है उसीको अब श्रुति नदीरूपसे दिखलाती है—

पञ्चस्त्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

पाँच स्रोत जिसमें जलकी धाराएँ हैं, पाँच उद्गमस्थानोंके कारण जो बड़ी उग्र और वक्र (टेढ़ी) है, जिसमें पञ्चप्राणरूप तरङ्गें हैं, पाँच प्रकारके ज्ञानोंका मूल जिसका कारण है, जिसमें पाँच आवर्त (भँवर) हैं, जो पाँच प्रकारके दुःखरूप ओघवेगवाली है और जो पाँच पर्वोंवाली है उस पचास भेदोंवाली [नदी] को हम जानते हैं॥ ५॥

पञ्चस्त्रोतोऽम्बुमिति। पञ्चस्त्रोतांसि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाण्यम्बुस्थानानि यस्यास्तां नदीं पञ्चस्त्रोतोऽम्बुम्। अधीम इति सर्वत्र सम्बध्यते। पञ्चयोनिभिः कारणभूतैः पञ्चभूतैरुग्रां वक्रां च पञ्चयोन्युग्रवक्राम्। पञ्च प्राणाः कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादयो वोर्मयो यस्यास्तां पञ्चप्राणोर्मिम्। पञ्चबुद्धीनां चक्षुरादिजन्यानां ज्ञानानामादिः कारणं मनः। मनोवृत्तिरूपत्वात्सर्वज्ञानानां मनो मूलं कारणं यस्याः संसारसरितस्ताम्। तथा च मनसः सर्वहेतुत्वं दर्शयति—

''मनोविजृम्भितं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥''

'पञ्चस्त्रोतोऽम्बुम्' इत्यादि। पाँच स्रोतरूप चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही जिसके जलस्थान हैं उस पाँच स्रोतरूप जलवाली नदीको [हम जानते हैं]। यहाँ 'अधीमः' (जानते हैं) क्रियापदका सबके साथ सम्बन्ध है। पाँच योनियों अर्थात् कारणभूत पाँच भूतोंसे जो उग्र और वक्र है उस पञ्चयोन्युग्रवक्राको, पाँच प्राण अथवा वाक्, पाणि, पादादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ जिसकी तरङ्गें हैं उस पञ्चप्राणोर्मिको पाँच बुद्धियों अर्थात् चक्षु आदिसे होनेवाले पाँच ज्ञानोंका आदि यानी कारण मन है, क्योंकि समस्त ज्ञान मनोवृत्तिरूप हैं; वह मन जिस संसाररूप नदीका मूल—कारण है उसको। तथा मन ही सबका हेतु है—यह इस वाक्यसे दिखाते हैं—''जितना कुछ स्थावर-जंगम है वह सब मनका ही विलास है। मनके मननशून्य होनेपर द्वैतकी उपलब्धि ही नहीं होती।''

इति। पञ्चशब्दादयो विषया आवर्तस्थानीयास्तेषु विषयेषु प्राणिनो निमज्जन्तीति यस्यास्तां पञ्चावर्ताम्। पञ्च गर्भदुःखजन्मदुःखजरादुःखव्याधिदुःखमरणदुःखान्येवौघवेगो यस्यास्तां पञ्चदुःखौघवेगाम्। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशभेदाः पञ्च पर्वाण्यस्यास्तां पञ्चपर्वामिति॥ ५॥

शब्दादि पाँच विषय आवर्तरूप हैं, उन विषयोंमें प्राणी डूब जाते हैं, इसलिये वे जिसके आवर्त हैं उस पाँच आवर्तवालीको, गर्भदुःख, जन्मदुःख, जरादुःख, व्याधिदुःख और मरणदुःख— ये पाँच जिसके ओघवेग (जलराशिके प्रवाह) हैं उस पाँच दुःखरूप ओघवेगवालीको तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश— ये पाँच क्लेश ही जिसके पाँच पर्व हैं उस पाँच पर्वोंवाली संसारनदीको [हम जानते हैं]॥ ५॥

जीवके संसार-बन्धन और मोक्षके कारणका निर्देश

एवं तावन्नदीरूपेण ब्रह्मचक्ररूपेण च कार्यकारणात्मकं ब्रह्म सप्रपञ्चमिहाभिहितम्। इदानीमस्मिन्कार्यकारणात्मकब्रह्मचक्रे केन वा संसरति केन वा मुच्यत इति संसारमोक्षहेतुप्रदर्शनायाह—

इस प्रकार यहाँतक तो नदीरूपसे और ब्रह्मचक्ररूपसे प्रपञ्चसहित कार्य-कारणरूप ब्रह्मका वर्णन किया गया। अब, इस कार्य-कारणात्मक ब्रह्मचक्रमें किस हेतुसे जीवको संसारकी प्राप्ति होती है और किस साधनसे वह मुक्त होता है इस प्रकार संसार और मोक्षका हेतु दिखलानेके लिये श्रुति कहती है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

जीव अपनेको और सर्वनियन्ता परमात्माको अलग-अलग मानकर इस समस्त भूतोंके जीवननिर्वाहक (भोगभूमि) और सबके आश्रयभूत (प्रलयस्थान) महान् ब्रह्मचक्रमें भ्रमता रहता है; और जब उससे अभिन्नरूपसे सेवित होता है तब अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

सर्वाजीव इति। सर्वेषामाजीवनमस्मिन्निति सर्वाजीवे। सर्वेषां संस्था समाप्तिः प्रलयो यस्मिन्निति सर्वसंस्थे। बृहन्तेऽस्मिन् हंसो जीवः। हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः। भ्राम्यतेऽनात्मभूतदेहादिमात्मानं मन्यमानः सुरनरतिर्यगादिभेदभिन्ननानायोनिषु। एवं भ्राम्यमाणः परिवर्तत इत्यर्थः।

केन हेतुना नानायोनिषु परिवर्तते? इति तत्राह—पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वेति। आत्मानं जीवात्मानं प्रेरितारं चेश्वरं पृथग्भेदेन मत्वा ज्ञात्वा 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि' इति जीवेश्वरभेददर्शनेन संसारे परिवर्तत इत्यर्थः।

केन मुच्यते? इत्याह—जुष्टः

'सर्वाजीवे' इत्यादि। जिसमें समस्त भूतोंका जीवन है उस सर्वाजीव तथा जिसमें सबकी संस्था—समाप्ति यानी प्रलय होती है उस सर्वसंस्थ बृहन्त (महान्) ब्रह्मचक्रमें हंस-जीव, संसारमार्गमें हनन—गमन करता है इसलिये जीव हंस कहा जाता है, भ्रमता रहता है अर्थात् अनात्मभूत देहादिको आत्मा मानता हुआ देवता, मनुष्य एवं तिर्यगादि भेदोंवाली अनेकों योनियोंमें भ्रमण करता है। इसी प्रकार भ्रमण करता हुआ सब ओर भटकता रहता है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

किस कारणसे अनेकों योनियोंमें घूमता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इति। आत्मा अर्थात् जीवात्मा और प्रेरक-ईश्वरको पृथक्—विभिन्नरूपसे मानकर; तात्पर्य यह है कि 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार जीव और ईश्वरका भेद देखनेसे वह संसारमें घूमता है।

किस उपायसे वह मुक्त होता है,

सेवितस्तेनेश्वरेण चित्सदानन्दाद्वितीय-ब्रह्मात्मनाहं ब्रह्मास्मीति समाधानं कृत्वेत्यर्थः। तेनेश्वर-सेवनादमृतत्वमेति। यस्तु पूर्णानन्द-ब्रह्मरूपेणात्मानमवगच्छति स मुच्यते। यस्तु परमात्मनोऽन्य-मात्मानं जानाति स बध्यत इति। तथा च बृहदारण्यके भेददर्शनस्य संसारहेतुत्वं प्रदर्शितम्—"य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" (बृह० उ० १। ४। १०) इति।

तथा च श्रीविष्णुधर्मे—

"पश्यत्यात्मानमन्यं तु
　　यावद्वै परमात्मनः।
तावत्संभ्राम्यते जन्तु-
　　र्मोहितो निजकर्मणा॥
संक्षीणाशेषकर्मा तु
　　परं ब्रह्म प्रपश्यति।
अभेदेनात्मनः शुद्धं
　　शुद्धत्वादक्षयो भवेत्"॥ ६॥

सो बतलाते हैं—उस ईश्वरसे [illegible] होनेपर अर्थात् सच्चिदानन्दमय [illegible] अभिन्न ब्रह्मस्वरूपसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा समाधान (समाधि) करनेपर। इस समाधिद्वारा ईश्वरका सेवन करनेसे वह मुक्त हो जाता है। जो कोई भी अपनेको पूर्णानन्द ब्रह्मस्वरूपसे अनुभव करता है वही मुक्त होता है और जो अपनेको परमात्मासे भिन्न जानता है वह बँधता है। इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी भेददृष्टिको संसारका हेतु दिखलाया है—"जो ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह सर्वरूप हो जाता है; देवगण भी उसके सर्वात्मक ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेको समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। किन्तु जो किसी अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' ऐसे भावसे उपासना करता है वह नहीं जानता [अर्थात् वह अज्ञानी है] वह पशुओंके समान देवताओंका पशु है।"

ऐसा ही विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें भी कहा है—"जीव जबतक अपनेको परमात्मासे भिन्न देखता है तबतक वह अपने कर्मोंद्वारा मोहित करके भटकाया जाता है। किन्तु जब उसके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं तो उसे शुद्ध परब्रह्मका अपने अभेदरूपसे साक्षात्कार होता है और शुद्धस्वरूप हो जानेके कारण वह अमर हो जाता है"॥ ६॥

परब्रह्मकी प्राप्तिसे मुक्तिका वर्णन

ननु तमेकनेमिमित्यादिना सप्रपञ्चं ब्रह्म प्रतिपादितम्। तथा च सत्यहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मप्रतिपत्तावपि सप्रपञ्चस्यैव ब्रह्मण आत्मत्वेनावगमात् "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति सप्रपञ्चब्रह्मप्राप्तिरेव स्यात्। ततश्च प्रपञ्चस्यापरित्यागान्न मोक्षसिद्धिः ततश्च जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेतीति-मोक्षोपदेशोऽनुपपन्न एवेत्याशङ्क्याह—

'तमेकनेमिम्' इत्यादि वाक्यसे प्रपञ्चयुक्त ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है; ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मभावकी प्राप्ति होनेपर भी प्रपञ्चयुक्त ब्रह्मको ही आत्मस्वरूपसे जाना जायगा; इससे "उसकी जो जिस प्रकार उपासना करता है वैसा ही हो जाता है" इस सिद्धान्तके अनुसार सप्रपञ्च ब्रह्मकी ही प्राप्ति होगी। और तब प्रपञ्चका त्याग न होनेसे मोक्षकी भी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये 'उससे अभिन्नरूपसे सेवित होनेपर अमरत्व प्राप्त करता है' इस प्रकार जो मोक्षका उपदेश किया है वह अनुपयुक्त ही है—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

**उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥**

प्रपञ्चसे पृथक्‌रूपसे वर्णन किया गया यह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट ही है। उसमें [भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—ये] तीनों स्थित हैं। वह इनकी सुप्रतिष्ठा और अविनाशी है। इसमें प्रवेशद्वार पाकर ब्रह्मवेत्तालोग ब्रह्ममें लीन हो समाधिनिष्ठामें स्थित हुए जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं॥ ७॥

उद्गीतमिति। सप्रपञ्चं ब्रह्म यदि स्यात्ततो भवत्येव मोक्षाभावः। न त्वेतदस्ति। कस्मात्? यत उद्गीतमुद्धृत्य गीतमुपदिष्टं कार्यकारणलक्षणात्प्रपञ्चाद्वेदान्तैः। "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केंo उo १। ३)। "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (केo उo १। ४)। "अस्थूलम्" (बृo उo ३। ८। ८) "अशब्दमस्पर्शम्" (कo उo १। ३। १५)। "स एष नेति नेतीति।" "ततो यदुत्तरतरम्" (श्वेताo उo ३। १०)। "अन्यत्र धर्मात्" (कo उo १। २। १४)। "न सन्न चासच्छिव एव केवलः" (श्वेताo उo ४। १८)। "तमसः परः।" "यतो वाचो निवर्तन्ते।" (तैo उo २। ४। १) "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छाo उo ७। २४। १) "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं भयं जरामत्येति" (बृo उo ३। ५। १)। "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मुo उo २। १। २)। "एकमेवाद्वितीयम्।" (छाo उo ६। २। १) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छाo उo ६।

'उद्गीतम्' इत्यादि। यदि ब्रह्म प्रपञ्चयुक्त होता तब तो [उसकी प्राप्तिमें] मोक्षका अभाव हो सकता था। किन्तु ऐसी बात है नहीं। कैसे नहीं है? क्योंकि वेदान्तोंने इसका कार्य-कारणरूप प्रपञ्चसे अलग करके गान यानी उपदेश किया है। तात्पर्य यह है कि "वह विदितसे भिन्न है और अविदितसे भी परे है", "तू उसीको ब्रह्म जान, जिसकी लोक इदंभावसे उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है", "वह स्थूल नहीं है", "शब्दरहित है और स्पर्शरहित है", "वह ब्रह्म यह (कारण) नहीं है, यह (कार्य) नहीं है", "जो उससे भी आगे है", "वह धर्मसे परे है", "न सत् है न असत्, वह शुद्ध-स्वभाव एवं अविद्याजनित विकल्पसे शून्य है", "वह अज्ञानसे परे है", "जहाँसे वाणी लौट आती है", "जहाँ न अन्य कुछ देखता है, न अन्य कुछ जानता है वह भूमा है", "जो भूख-प्यास तथा शोक, मोह, भय और वृद्धावस्थासे परे है", "जो प्राण और मनसे रहित, शुद्धस्वरूप और पर अव्याकृतसे भी परे है", "ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय है", "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला

१। ४) "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ० उ० ४।४।१९)।"एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४।४।२०)। इत्येवमादिषु प्रपञ्चास्पृष्टमेव ब्रह्मावगम्यत इत्यर्थः।

यत एवं प्रपञ्चधर्मरहितं ब्रह्मात एव परमं तु ब्रह्म। तुशब्दोऽवधारणे। परममेवोत्कृष्टमेव। संसारधर्मानास्कन्दितत्वात्। उद्गीतत्वेन ब्रह्मण उत्कृष्टत्वात्। "तं यथा यथोपासते" इति न्यायेनोत्कृष्ट ब्रह्मोपासनादुत्कृष्टमेव फलं मोक्षाख्यं भवत्येवेत्यभिप्रायः।

प्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्यम् आशङ्क्य तन्निरसनम्

नन्वेवं तर्हि ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसृष्टत्वे प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मासंसर्गात्सांख्यवाद इव प्रपञ्चस्यापि पृथक्सिद्धत्वेन स्वतन्त्रत्वाद् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६।१।४) इति पारतन्त्र्याभ्युपगमेन मिथ्यात्वोपदेशपूर्वकमद्वितीयब्रह्मात्मत्वेनोपदेशोऽनुपपन्नश्चेत्याशङ्क्याह—

नाममात्र है", "यहाँ नाना कुछ नहीं है" तथा "उसे एकरूप ही देखना चाहिये" इत्यादि मन्त्रोंमें ब्रह्म प्रपञ्चसे असङ्ग ही जाना जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

क्योंकि इस प्रकार ब्रह्म प्रपञ्चके धर्मोंसे रहित है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट ही है। मूलमें 'तु' शब्द निश्चयार्थक है। परममेव अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ही है, क्योंकि वह समस्त सांसारिक धर्मोंसे अनाक्रान्त है। उद्गीतरूप होनेसे ब्रह्म उत्कृष्ट है। "उसे जो जिस प्रकार उपासना करता है" इस न्यायसे उत्कृष्ट ब्रह्मकी उपासना करनेसे मोक्षरूप उत्कृष्ट फल ही होता है ऐसा अभिप्राय है।

ऐसा होनेपर तो यदि ब्रह्म प्रपञ्चसे असङ्ग है और ब्रह्मका भी प्रपञ्चसे कोई संसर्ग नहीं है तो सांख्यवादके समान प्रपञ्च भी पृथक् सिद्ध होनेके कारण स्वतन्त्र होनेसे "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इस वाक्यके अनुसार प्रपञ्चकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर उसका मिथ्यात्व बतलाते हुए अद्वितीय ब्रह्मरूपसे उपदेश करना अनुचित ही होगा—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—

तस्मिंस्त्रयमिति। यद्यपि ब्रह्म प्रपञ्चासंस्पृष्टं स्वतन्त्रं च तथापि प्रपञ्चो न स्वतन्त्रः। अपि तु तस्मिन्नेव ब्रह्मणि त्रयं प्रतिष्ठितं भोक्ता भोग्यं प्रेरितारमिति वक्ष्यमाणं भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणम्। "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" इति वक्ष्यमाणं भोक्तृभोग्यार्थरूपं चान्यद्वेदं श्रुतिसिद्धं विराट्सूत्राभ्यां कृतं नामरूपकर्मविश्वतैजसप्राज्ञजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपस्वरूपं प्रतिष्ठितं रज्वामिव सर्पः। यत एतस्मिन्सर्वं भोक्त्रादिलक्षणं प्रपञ्चरूपं प्रतिष्ठितम्, अत एवास्य भोक्त्रादित्रयात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्म सुप्रतिष्ठा शोभनप्रतिष्ठा। ब्रह्मणोऽन्यस्य चलनात्मकत्वाच्चलप्रतिठान्यत्र। ब्रह्मणोऽचलत्वादत्राचलप्रतिष्ठा।

'तस्मिंस्त्रयम्' इत्यादि। यद्यपि ब्रह्म प्रपञ्चसे संसर्ग नहीं है और वह स्वतन्त्र है तथापि प्रपञ्च स्वतन्त्र नहीं है; अपि तु भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता—ऐसा कहकर जिनका आगे वर्णन किया है वे भोक्ता, भोग्य और नियन्ता तीनों उस ब्रह्ममें ही स्थित हैं। अथवा "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" इस वाक्यसे कहे जानेवाले भोक्ता, भोग्य और भोग, किंवा श्रुतिप्रतिपादित विराट् और हिरण्यगर्भद्वारा रचे हुए नाम, रूप और कर्म अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ या जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—ये तीनों उसमें रज्जुमें सर्पके समान प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि इसमें भोक्तादिरूप सारा प्रपञ्च प्रतिष्ठित है, इसीसे ब्रह्म इस भोक्तादि त्रयरूप प्रपञ्चकी सुप्रतिष्ठा अर्थात् उत्तम आश्रयस्थान है। ब्रह्मसे भिन्न और सब चलायमान (अस्थायी) हैं; इसलिये अन्य सब चलप्रतिष्ठा हैं; ब्रह्म अचल है, इसलिये इसमें उनकी अचल प्रतिष्ठा है।

ब्रह्मणः प्रपञ्चाश्रयत्वेऽपि नित्यत्वसमर्थनम्

नन्वेवं तर्हि विकारभूतप्रपञ्चाश्रयत्वेन परिणामित्वाद्दध्यादिवदनित्यं स्यादित्याशङ्क्याह—अक्षरं चेति। यद्यपि विकारः प्रपञ्चाश्रय-

यदि ऐसा है तब तो विकारभूत प्रपञ्चका आश्रय होनेसे परिणामी होनेके कारण दधि आदिके समान ब्रह्म भी अनित्य सिद्ध होगा—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—'अक्षरं च।' यद्यपि प्रपञ्चका आश्रय होना विकार है

स्तथाप्यक्षरं न क्षरतीत्यक्षरम्। च शब्दोऽवधारणे अविनाश्येव ब्रह्म, मायात्मकत्वाद्विकारस्य। विकाराश्रयत्वेऽप्यविनाश्येव कूटस्थं ब्रह्मावतिष्ठत इत्यभिप्रायः। मायात्मकत्वं च प्रपञ्चस्य पूर्वमेव प्रपञ्चितम्। तस्मात्सर्वात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्मकत्वेन ब्रह्मणः प्रपञ्चासंसर्गात्पूर्णानन्दब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्षाख्यः परमपुरुषार्थो भवतीत्यर्थः।

पूर्णानन्द-ब्रह्मात्मानं पश्यतो मोक्ष-सिद्धिप्रकारः

कथं तस्यात्मानं पश्यतो मोक्षसिद्धिरित्यत आह — अत्रास्मिन्नन्नमयाद्यानन्दमयान्ते देहे विराडाद्यव्याकृतान्ते वा प्रपञ्चे पूर्वपूर्वोपाधिप्रविलये-नोत्तरोत्तरमप्यशनायाद्यसंस्पृष्टं वाचा-मगोचरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि विश्वाद्युपसंहारमुखेन लयं गता अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मरूपेणैव स्थिता इत्यर्थः। तत्पराः समाधिपराः किं कुर्वन्ति योनिमुक्ता भवन्ति गर्भ-जन्मजरामरणसंसारभयान्मुक्ता भव-न्तीत्यर्थः।

तथापि वह अक्षर है जो स्वरूपसे च्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं। यहाँ 'च' शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् ब्रह्म अविनाशी ही है, क्योंकि विकार मायिक है। अभिप्राय यह है कि विकारका आश्रय होनेपर भी कूटस्थ ब्रह्म अविनाशी ही रहता है। प्रपञ्चका मायामय होना तो पहले ही विस्तारसे बतला दिया गया है। अतः तात्पर्य यह है कि ब्रह्म यद्यपि सर्वरूप है तथापि प्रपञ्च मिथ्या होनेसे ब्रह्मसे प्रपञ्चका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मात्मभावका दर्शन करनेवाले पुरुषको मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है।

अब श्रुति यह बतलाती है कि उस आत्मदर्शीको किस प्रकार मोक्षकी प्राप्ति होती है? यहाँ—अन्नमय कोशसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त इस देहमें अथवा विराट्से लेकर अव्याकृतपर्यन्त प्रपञ्चमें पूर्व-पूर्व उपाधिका लय करते हुए उत्तरोत्तर क्षुधादिके संसर्गसे शून्य वाणीके अविषयभूत ब्रह्मको जानकर ब्रह्मवेत्तालोग ब्रह्ममें लीन हो—विश्वादिका उपसंहार करते हुए ब्रह्ममें ही लयको प्राप्त हो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मरूपसे ही स्थित हो जाते हैं। और तत्पर अर्थात् समाधिपरायण होकर क्या करते हैं?—योनिमुक्त हो जाते हैं; अर्थात् गर्भवास, जन्म, जरा और मरणरूप संसारके भयसे मुक्त हो जाते हैं।

उक्तार्थे स्मृति-प्रमाणदर्शनम् तथा च योगियाज्ञवल्क्यो ब्रह्मात्मनैवावस्थितं समाधिं दर्शयति—

''यदर्थमिदमद्वैतं
भारूपं सर्वकारणम्।
आनन्दममृतं नित्यं
सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
तदेवानन्यधीः प्राप्य
परमात्मानमात्मना ।
तस्मिन्प्रलीयते त्वात्मा
समाधिः स उदाहृतः॥
इन्द्रियाणि वशीकृत्य
यमादिगुणसंयुतः ।
आत्ममध्ये मनः कुर्या-
दात्मानं परमात्मनि॥
परमात्मा स्वयं भूत्वा
न किञ्चिच्चिन्तयेत्ततः।
तदा तु लीयते त्वात्मा
प्रत्यगात्मन्यखण्डिते॥
प्रत्यगात्मा स एव स्या-
दित्युक्तं ब्रह्मवादिभिः॥''
इति॥ ७॥

इसी प्रकार योगी याज्ञवल्क्य भी ब्रह्मात्मभावसे स्थित होनेको ही समाधिरूपसे प्रदर्शित करते हैं—''यह जो सबका कारणरूप, अद्वैततत्त्व है प्रकाशस्वरूप, आनन्दमय अमृत, नित्य और समस्त भूतोंमें ओतप्रोत है। अनन्यचित्त पुरुष उस परमात्माको ही आत्मस्वरूपसे प्राप्तकर उसीमें लीन हो जाता है। वही समाधि कहलाती है। इन्द्रियोंको अपने वशमें कर यमादि गुणोंसे सम्पन्न हो मनको आत्मामें लगावे और आत्माको परमात्मामें। फिर स्वयं परमात्मभावसे स्थित हो कुछ भी चिन्तन न करे। तब यह चित्त अखण्ड प्रत्यगात्मामें लीन हो जाता है। वही प्रत्यगात्मा है—ऐसा ब्रह्मवादियोंने कहा है''॥ ७॥

व्यावहारिक भेद और ज्ञानद्वारा मोक्षका प्रदर्शन

नन्वद्वितीये परमात्मन्यभ्युपगम्यमाने जीवेश्वरयोरपि विभागाभावाल्लीना ब्रह्मणीति जीवानां ब्रह्मैकत्वपरा लयश्रुतिरनुपपन्नैवेत्याशङ्क्य व्यवहारावस्थायां

किन्तु परमात्माको अद्वितीय माननेपर तो जीव और ईश्वरका भी विभाग न रहनेसे 'लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः' यह जीवोंका ब्रह्ममें लय बतलानेवाली श्रुति असंगत ही होगी—ऐसी आशङ्का

जीवेश्वरयोरुपाधितो विभागं दर्शयित्वा तद्विज्ञानादमृतत्वं दर्शयति—

करके व्यवहारावस्थामें उपाधिवश जीव और ईश्वरका विभाग दिखलाकर श्रुति परमात्माके विज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति प्रदर्शित करती है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ ८॥

परस्पर मिले हुए इस क्षर-अक्षर अथवा व्यक्ताव्यक्तरूप विश्वका परमात्मा पोषण करता है। मायाधीन जीव भोक्तृभावके कारण उसमें बँधता है और परमात्माका ज्ञान होनेपर समस्त पाशोंसे मुक्त हो जाता है॥ ८॥

संयुक्तमेतदिति। व्यक्तं विकारजातमव्यक्तं कारणं तदुभयं क्षरमक्षरं च व्यक्तं क्षरं विनाश्यव्यक्त-मक्षरमविनाशि तदुभयं परस्परसंयुक्तं कार्यकारणात्मकं विश्वं भरते बिभर्तीश ईश्वरः। तथा चाह भगवान्—

''क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः॥
यो लोकत्रयमाविश्य
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।''
(गीता १५। १६, १७)

इति।

'संयुक्तमेतत्' इत्यादि। व्यक्त-विकारसमूह और अव्यक्त कारण ये ही दोनों क्षर और अक्षर हैं। व्यक्त—क्षर यानी विनाशी है और अव्यक्त—अक्षर यानी अविनाशी है। परस्पर मिले हुए कार्य-कारणात्मक विश्वरूप इन दोनोंका परमात्मा पोषण करता है। ऐसा ही भगवान्ने कहा भी है—''सम्पूर्ण भूत (प्राकृत विकार) क्षर हैं और कूटस्थ प्रकृति (भगवान्की मायाशक्ति) अक्षर कही जाती है। इन दोनोंसे अत्यन्त उत्कृष्ट पुरुष [अर्थात् पुरुषोत्तम] तो अन्य ही है, जो परमात्मा कहा गया है; तथा जो अविनाशी ईश्वर तीन लोकोंमें व्याप्त होकर उनको धारण करता है।'' इत्यादि।

न केवलमीश्वरो व्यक्ताव्यक्तं भरतेऽनीशश्चानीश्वरश्च स आत्माविद्या-तत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभिर्बध्यते भोक्तृभावात्। एतदुक्तं भवति—परस्परसंयुक्तो व्यष्टि-समष्टिरूप ईश्वरः। तद्व्यष्टिभूत-देहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः। एवं समष्टिव्यष्ट्यात्मकत्वेन जीव-परयोरौपाधिकस्य भेदस्य विद्यमानत्वात्तदुपाध्युपासनद्वारेण निरुपाधिक-मीश्वरं ज्ञात्वा मुच्यत इति भोक्त्रात्मैक्यवादे नानुपपन्नं किञ्चिद्विद्यत इति।

परमात्मा केवल व्यक्ताव्यक्तरूप विश्वका भरण ही नहीं करता, अपितु जीव अनीश—अस्वतन्त्र भी है और वह भोक्तृत्वके कारण अविद्या और उसके कार्यभूत देह एवं इन्द्रियादिसे बँध जाता है। यहाँ कहना यह है कि ईश्वर परस्पर मिले हुए समष्टि-व्यष्टिरूप है। उनमें व्यष्टि देह एवं इन्द्रियोंवाला मायाधीन जीव है। इस प्रकार समष्टि-व्यष्टिरूपसे जीव और परमात्माका औपाधिक भेद विद्यमान रहनेसे उस उपाधिजनित उपासनाके द्वारा निरुपाधिक ईश्वरका ज्ञान होनेपर जीव मुक्त हो जाता है। अतः भोक्ता जीव और परमात्माका एकत्व माननेवाले सिद्धान्तमें असंगत कुछ भी नहीं है।

भेदस्यौपाधिकत्वम्

तथा चौपाधिकमेव भेदं दर्शयति भगवान् याज्ञवल्क्यः—

"आकाशमेकं हि यथा
घटादिषु पृथग्भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकश्च
जलाधारेष्विवांशुमान्॥"
(याज्ञ० ३। १४४)

इसी प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य भी इनका औपाधिक भेद ही दिखलाते हैं—"जिस प्रकार घटादिमें एक ही आकाश भिन्न-भिन्न हो जाता है उसी प्रकार एक ही आत्मा जलाशयोंमें सूर्यके समान भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहा है।"

तथा च श्रीविष्णुधर्मे—

"परात्मनोर्मनुष्येन्द्र
विभागोऽज्ञानकल्पितः।

श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें भी ऐसा ही कहा है—"राजन्! परमात्मा और जीवात्माका भेद अज्ञानकल्पित है;

क्षये तस्यात्मपरयो-
विभागाभाव एव हि॥
आत्मा क्षेत्रज्ञसंज्ञोऽयं
संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव विगतः शुद्धः
परमात्मा निगद्यते॥
अनादिसम्बन्धवत्या
क्षेत्रज्ञोऽयमविद्यया ।
युक्तः पश्यति भेदेन
ब्रह्म त्वात्मनि संस्थितम्॥"

अज्ञानका नाश हो जानेपर आत्मा और परमात्माके भेदका अभाव ही सिद्ध होता है। यह क्षेत्रज्ञसंज्ञक जीवात्मा प्रकृतिके गुणोंसे युक्त है और उन्हींसे रहित होनेपर यह शुद्धस्वरूप परमात्मा कहा जाता है। यह क्षेत्रज्ञ अपनेसे अनादिकालसे सम्बन्ध रखनेवाली अविद्यासे युक्त होनेसे ही अपनेमें स्थित ब्रह्मको भेदभावसे देखता है।"

तथा च श्रीविष्णुपुराणे—
"विभेदजनकेऽज्ञाने
नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेद-
मसन्तं कः करिष्यति॥"
(६। ७। ९६)

तथा श्रीविष्णुपुराणमें भी कहा है—"जीव और ब्रह्मका भेद उत्पन्न करनेवाले अज्ञानका आत्यन्तिक नाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मका मिथ्या भेद कौन करेगा?"

तथा च वासिष्ठे योगशास्त्रे प्रश्नपूर्वकं दर्शितम्—
"यद्यात्मा निर्गुणः शुद्धः
सदानन्दोऽजरोऽमरः ।
संसृतिः कस्य तात स्या-
न्मोक्षो वा विद्यया विभो॥
क्षेत्रनाशः कथं तस्य
ज्ञायते भगवन्यतः।
यथावत्सर्वमेतन्मे
वक्तुमर्हसि साम्प्रतम्॥"

वासिष्ठ योगशास्त्रमें भी [रामचन्द्रजीके] प्रश्नपूर्वक यही बात दिखायी है। [राम—] "यदि आत्मा निर्गुण, शुद्ध, नित्यानन्दस्वरूप, जराशून्य और अमर है तो हे विभो! यह संसार किसे प्राप्त होता है? अथवा ज्ञानसे किसका मोक्ष होगा? और हे भगवन्! [ज्ञानीके महाप्रयाणके समय] उसका लिङ्गभङ्ग होता कैसे जाना जाता है? इस समय ये सब बातें आप मुझे यथार्थ रीतिसे बतला दीजिये।"

वसिष्ठः—

''तस्यैव नित्यशुद्धस्य सदानन्दमयात्मनः ।
अवच्छिन्नस्य जीवस्य संसृतिः कीर्त्यते बुधैः॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
भ्रान्त्यारूढः स एवात्मा जीवसंज्ञः सदा भवेत्॥''

वसिष्ठ—''मनीषिगण उस नित्यशुद्ध, नित्यानन्दमय आत्माको ही देहावच्छिन्न जीवभावकी प्राप्ति होनेपर संसारकी प्राप्ति बतलाते हैं। प्रत्येक जीवमें एक ही भूतात्मा (सत्य आत्मा—परब्रह्म) स्थित है। वही जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान एक और अनेक रूपसे देखा जाता है। अविद्याधीन होनेपर वही परमात्मा सर्वदा जीवसंज्ञावाला हो जाता है।''

परस्यैवौपाधिक-जीवादिभेदो बन्धमुक्तादि-व्यवस्था च

तथा च ब्राह्मे पुराणे परस्यैवौपाधिकं जीवादिभेदं दर्शयति—कथं तर्ह्यौपाधिकभेदेन बन्धमुक्त्यादिव्यवस्था? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तपूर्वकं व्यवस्थां दर्शयति—

इसी प्रकार ब्रह्मपुराणमें भी परमात्माके ही औपाधिक जीवादि भेद दिखलाते हैं। वहाँ यह शङ्का करके कि ऐसी अवस्थामें औपाधिक भेदसे ही बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे हो सकती है? उनकी दृष्टान्तपूर्वक व्यवस्था दिखलाते हैं—

''एकस्तु सूर्यो बहुधा जलाधारेषु दृश्यते।
आभाति परमात्मा च सर्वोपाधिषु संस्थितः॥
ब्रह्म सर्वशरीरेषु बाह्ये चाभ्यन्तरे स्थितम्।
आकाशमिव भूतेषु बुद्धावात्मा च चान्यथा॥

''जिस प्रकार एक ही सूर्य विभिन्न जलाधारोंमें अनेकरूप दिखायी देता है उसी प्रकार समस्त उपाधियोंमें स्थित परमात्मा भी अनेकवत् भासता है। वह परब्रह्म समस्त शरीरोंके बाहर और भीतर भी स्थित है। जिस प्रकार आकाश पञ्चभूतोंमें ओतप्रोत है उसी प्रकार समस्त बुद्धियोंमें एक ही आत्मा अनुस्यूत है,

एवं सति यथा बुद्ध्या
देहोऽहमिति मन्यते।
अनात्मन्यात्मताभ्रान्त्या
सा स्यात्संसारबन्धिनी॥
सर्वैर्विकल्पैर्हीनस्तु
शुद्धो बुद्धोऽजरोऽमरः।
प्रशान्तो व्योमवद्व्यापी
चैतन्यात्मासकृत्प्रभः॥
धूमाभ्रधूलिभिर्व्योम
यथा न मलिनायते।
प्राकृतैरपरामृष्टो
विकारैः पुरुषस्तथा॥
यथैकस्मिन्घटाकाशे
जलैर्धूमादिभिर्युते।
नान्ये मलिनतां यान्ति
दूरस्था कुत्रचित्क्वचित्॥
तथा द्वन्द्वैरनेकैस्तु
जीवे च मलिनीकृते।
एकस्मिन्नापरे जीवा
मलिनाः सन्ति कुत्रचित्॥''

तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः—

''यथैकस्मिन्घटाकाशे
रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते
तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥''

(माण्डू० का० ३। ५) इति।

और किसी प्रकार नहीं। ऐसी स्थितिमें अनात्मामें आत्मत्वकी भ्रान्ति हो जानेसे वैसी बुद्धिके द्वारा वह जीव जो ऐसा मानने लगता है कि 'मैं देह हूँ' यह मति ही उसे संसारमें बाँधनेवाली है। किन्तु इन समस्त विकल्पोंसे रहित वह शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, अत्यन्त शान्त, आकाशके समान व्यापक, चैतन्यस्वरूप और नित्यज्योतिःस्वरूप है। जिस प्रकार धूम, मेघ और धूलि आदिसे आकाश मलिन नहीं होता उसी प्रकार पुरुष प्रकृतिके विकारोंसे असंग है। जिस प्रकार एक घटाकाशके जल या धूमादिसे युक्त होनेपर उससे दूर रहनेवाले अन्य सब घटाकाश कभी किसी भी स्थानमें मलिन नहीं होते उसी प्रकार एक जीवके अनेकों द्वन्द्वोंसे अभिभूत होनेपर भी अन्य जीव कहीं भी मलिन नहीं हो सकते।''

इसी तरह शुकदेवजीके शिष्य श्रीगौडपादाचार्य कहते हैं—''जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धूमादिसे युक्त होनेपर अन्य सब घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते, उसी तरह [एक जीवके] सुखादिसे सब जीव भी युक्त नहीं होते।''